नामवर सिंह

हिंदी के पहले बुद्धिजीवी समीक्षक की नामवरी

सुधीश पचौरी
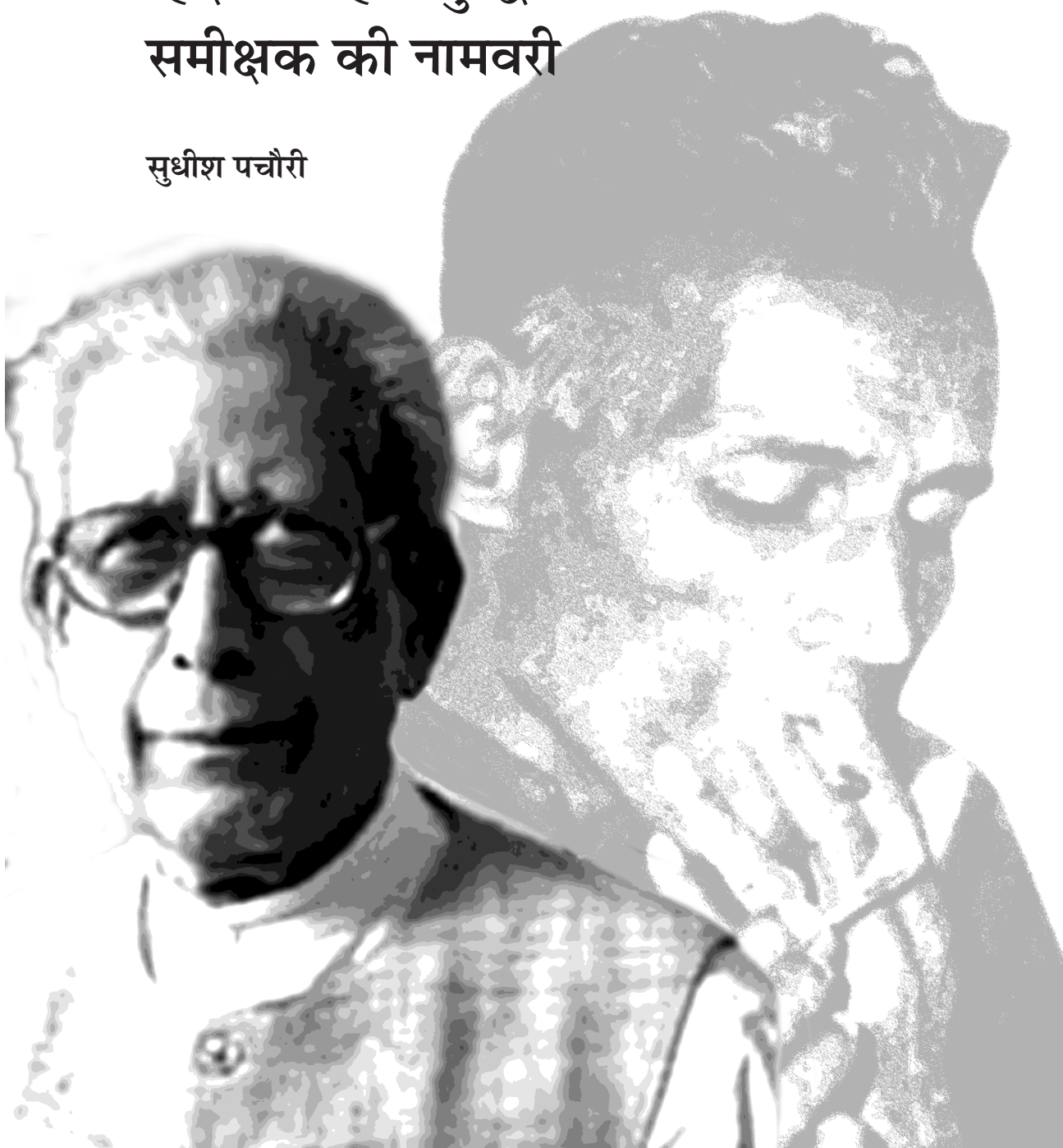
नामवर सिंह (1927–2019) जब तक रहे, हिंदी साहित्य की बहसों के अगुआ बने रहे। उनसे सहमत हो कर या फिर असहमत हो कर ही हिंदी साहित्य के समकालीन इतिहास को हाथ लगाया जा सकता था। हममें से बहुतों के लिए वे एक ऐसे मुक़ाम की तरह थे जहाँ से हमें आधुनिक हिंदी साहित्य में प्रवेश मिलता था। उनसे झगड़े बिना, या उनका आशीर्वाद लिए बिना आप आगे नहीं बढ़ सकते थे। उनका आशीर्वाद बहुतों को मिला, लेकिन इन पंक्तियों के लेखक को कभी न मिला और शायद इसीलिए इसके आकर्षण का वे एक अनिवार्य केंद्र बने रहे। न जाने कितनों के वे 'ऑल्टर ईगो' थे। न जाने कितने उनके रहते पनप न पाए। न जाने कितने उनके मुक़ाबले खड़े न हो पाए। उनकी समीक्षक–बुद्धि और उससे अधिक उनकी आकर्षक वक्तृता उन्हें रचनाकारों से भी बड़ा हीरो बनाती रही। वे हिंदी की साहित्यिक गोष्ठियों के स्थायी अध्यक्ष थे।

जिस दौर में आलोचना को रचनाकार का 'मेकअप मेन' माना जाता था, उसी दौर में बहुत से नामी रचनाकारों से कहीं अधिक बड़ा उनका प्रभामण्डल था। चाहे संस्कृत काव्यशास्त्र संबंधी कोई ग्रंथ हो, या अंग्रेज़ी में आयी साहित्य–समीक्षा अथवा मार्क्सवादी विचारधारा संबंधी कोई किताब, उसके कुछ सबसे पहले पाठकों में से एक नामवर होते। आते हुए हर नये विचार या विवाद को वे पकड़ते और अपनी प्रगतिशील दृष्टि से उसका 'संग्रह और त्याग' करते।

आज़ादी के बाद चलन में अधिकाधिक आने वाला 'नया' विशेषण सिर्फ़ कविता कहानी के लिए ही नहीं था, हर नयी चीज़ के लिए था। बदन पर धोती–कुरता और दिमाग़ में एक से एक नये विचार का होना उन्हें एक ही वक़्त में गँवई और ग्लोबल शख़्सियत बना देता। धोती–कुर्ता उनको 'एथ्निक लुक' देते, और पश्चिम के समीक्षा सिद्धांतों पर उनकी गहरी पकड़ अंग्रेज़ीवालों के बीच भी उनका रुतबा क़ायम रखती। सभी जानते–मानते हैं उन्होंने लिखा कम किंतु बोला अधिक। लेकिन उनका बोलना भी लिखे की तरह होता था।

उनके बोलने की कला ने प्रगतिशील आलोचना को एक 'पॉप आलोचना' में बदल दिया। अगर आज छोटे–छोटे क़स्बों, नगरों की गोष्ठियों, सेमिनारों, समारोहों और अखिल भारतीय स्तर पर फैले हिंदी विभागों में होती साहित्य–चर्चाओं में 'साहित्य और समाज' या 'साहित्य और उसकी सामाजिकता' पर बल नज़र आता है तो नामवर सिंह के जगह–जगह दिये भाषणों के कारण। अगर ग़ैर–मार्क्सवादी ख़ित्ते के लोग भी साहित्य की सामाजिक सार्थकता ढूँढ़ते हैं तो नामवर के पचास–साठ साल तक जगह–जगह दिये गये साहित्यिक प्रवचनों और तद्जन्य विमर्शों के कारण!

साहित्य को देखने–समझने के प्रगतिशील नज़रिये को हिंदी पढ़ने–लिखने वालों के बीच नामवर ने जितना स्वीकरणीय बनाया, उतना उनके समकालीनों में से किसी ने नहीं।

पिछली सदी के सातवें दशक के दौर में हममें से बहुत से युवा लेखक मान कर चला करते थे कि साहित्य–समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा का ही बोलबाला है। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह— यह त्रिमूर्ति हमें आश्वस्त करती कि ये ही हमारे क्रिस्टोफ़र कॉडवेल, ग्योर्ग लूकाच और रेमंड विलियम्स हैं। हम ज्यों–ज्यों अक्लमंद हुए त्यों–त्यों लगने लगा कि इनमें नामवर ही काम के हैं, बाक़ी तो 'कुत्सित समाजशास्त्री' या 'यांत्रिक मार्क्सवादी' हैं जो साहित्य की जटिलताओं में नहीं जाते। वे अपनी 'पसंदीदा' और 'प्रिफ़र्ड' रचना को ही रचना मानते हैं और बाक़ी को ख़ारिज करते हैं।

I

नामवर की नामवरी

हिंदी समीक्षा में मार्क्सवाद का बोलबाला भले रहा हो, साहित्य के बहुत से नये सवाल उसके विषय न बन सके। रचनाओं की समीक्षाएँ होती रहीं, आलोचना–कर्म को लेकर भी चर्चाएँ होती रहीं, लेकिन आलोचना का असली कर्म क्या है— इस पर बहुत कम विचार हुआ।

कोई आलोचक किसी रचना के मूल्यांकन तक कैसे पहुँच जाता है, इसका जवाब आलोचक या आलोचना नहीं दे पाती थी। आलोचना तो नज़र आती, लेकिन उसकी पद्धति समझ नहीं आती थी। आलोचना की पुरानी निगमनात्मक शैली या आगमनात्मक शैली तो समझ में आती, लेकिन पद्धति फिर भी स्पष्ट न होती। आलोचक किस चमत्कार से रचना की महानता तक पहुँच गया, वह प्रक्रिया नहीं दिखती। इसीलिए कोई कृति अचानक साहित्य में छा जाती और फिर ग़ायब हो जाती। सिर्फ़ रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा-शैली ऐसी थी, जिसमें उनकी पद्धति भी नज़र आती थी, लेकिन हर बंदा तो शुक्ल की-सी तैयारी नहीं रखता था।

प्रस्तुत पठंत (रीडिंग) में हम नामवर के जीवन-वृत्त की जगह उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों में से सिर्फ़ *कविता के नये प्रतिमान* पर फ़ोकस करना चाहते हैं ताकि नामवर की काव्यालोचना की पद्धति का एकमुश्त परिचय मिल सके। 'प्रतिमान' से पहले नामवर *कहानी नयी कहानी* में 'हिंदी की पहली नयी कहानी' की 'खोज' कर चुके थे, जिसके लिए वे खूब चर्चित रहे। उससे भी पहले वे *छायावाद* (1955) नामक एक अन्य छोटी-सी पुस्तक लिख चुके थे जिसमें छायावादी कवियों की कविताओं की 'काव्यगत विशेषताएँ' बताई थीं यह रचना साफ़ नहीं करती थी कि वे छायावाद की विशेषताओं तक किस 'पद्धति' से पहुँचे?

बहरहाल, 1955 से 1968 के बीच 'नयी कविता' का 'अवधानतापूर्वक पाठ' करते-करते नामवर समीक्षा की 'पद्धति' के प्रश्न तक पहुँच ही गये। इसका प्रमाण है उनकी समीक्षा पुस्तक *कविता के नये प्रतिमान* (1968)। इस पुस्तक लिखने के दौरान नामवर ने सबसे पहले समीक्षा-पद्धति के होने की समस्या को पहचाना।

जब तक छायावाद रहा तब तक रचना में 'अनुभूति' का बोलबाला रहा! हम कवि की मूल 'अनुभूति' ढूँढ़ते रहते। आलोचक अपनी अनुभूति के हिसाब से कवि की 'अनुभूति' तलाशते रहते और जब दोनों में तादात्म्य हो जाता, तो कविता पकड़ में आ जाती। अनुभूति के तादात्म्य के सहारे आलोचक कविता के अर्थ तक सीधे पहुँच जाते और फ़ैसले दे देते, लेकिन अगर अनुभूति में तादात्म्य न हो तब क्या हो? इसीलिए कृति आलोचक की कृपा पर निर्भर रहती। उसे पसंद आयी तो महान, नहीं तो दो कौड़ी की! आलोचना-कर्म में आलोचक के आत्मगत आग्रह या सब्जेक्टिविटी स्वयं एक समस्या बनी रही। यहीं यह सवाल उठा कि क्या किसी कृति के अर्थ तक पहुँचने के कुछ वस्तुगत तरीक़े भी हो सकते हैं? *कविता के नये प्रतिमान* इसी मायने में हिंदी-आलोचना में एक नया 'ब्रेक थ्रू' करने वाली किताब कही जा सकती है। इस 'वस्तुगत समीक्षा पद्धति' (ऑब्जेक्टिव मेथड) की तलाश में नामवर कितने सफल हुए कितने न हुए, यह अलग बात है। असली बात है किसी 'वस्तुगत समीक्षा पद्धति' की तलाश करना। हिंदी आलोचना का एक वक़्त ऐसा भी रहा, जब ऐसे प्रस्तावों को 'रूपवादी' बता कर ख़ारिज कर दिया जाता था। नामवर पहले हिंदी आलोचक रहे जिन्होंने *कविता के नये प्रतिमान* में सबसे पहले काव्यार्थ के उलझे हुए प्रश्नों को उठाया और अमेरिकी 'नव्य समीक्षा' द्वारा विकसित कुछ सूत्रों को समझने-समझाने और अमल में लाने की कोशिश की।

II

नामवर सामान्य आलोचकों में नहीं आते। वे उनमें नहीं, जिनकी आलोचना बोर करती है, बल्कि वे उनमें से हैं जिनकी आलोचना अपने पाठक को उत्तेजित करती है, छेड़ती है और रचना से पंगा लेती है। वे अपनी बात कम कहते हैं। दूसरों के कथनों के ज़रिये अपनी बात कहते हैं। वे अपने से पूर्व के या समकालीनों की उक्तियों को अपनी तर्क-योजना में कुछ इस तरह पिरोते हैं कि लगता है कि वे सीधे बहस नहीं कर रहे, दूसरों को दूसरों से भिड़ा कर अपनी बात कह रहे हैं। अपनी स्थापना के लिए

आलोचना उनके लिए एक अखाड़ा है जिसकी ज़मीन वे स्वयं तैयार करते हैं और जोड़ों को भी लड़ाते हैं, लेकिन जीतने वाला अंतिम दाँव उनका ही होता है। वे कृष्ण की तरह दुर्योधन और भीम के गदा-युद्ध में संकेतों से स्वयं को जिताते हैं। खण्डन-मण्डन की यह शैली संस्कृत काव्यशास्त्र और दर्शनों में पाई जाती है लेकिन 'पॉलिमिक्स' का जो चुटीलापन नामवर में मिलता है वह सीधे मार्क्सवादी चिंतकों से आता है। लेकिन नामवर में और मार्क्सवादी चिंतकों में एक फ़र्क़ है। मार्क्सवादी चिंतक जैसे मार्क्स या प्लेखानोव या लेनिन या ट्राट्स्की अपने प्रतिपक्ष से सीधे टकरा कर उन्हें निरुत्तर कर अपनी बात कहने में यक़ीन करते हैं, लेकिन नामवर अपने प्रतिपक्ष को अन्य प्रतिपक्षी से लड़ाते हुए अपनी लाइन खींचने में यक़ीन करते हैं।

पहले वे किसी एक उस्ताद की कुछ सटीक लाइनें जुटाते हैं, फिर उसकी काट करने के लिए किसी तीसरे की लाइनें उद्धृत करते हैं, फिर उसको भी किनारे करने के लिए अगले विद्वान को उद्धृत करते हैं, और अंत में किसी के बहाने अपनी बात कहते हैं। इस तरह वे समीक्षक ही नहीं, समीक्षा के आयोजक भी हैं।

कविता के नये प्रतिमान शुरू से आख़िर तक दूसरे-तीसरे-चौथे समीक्षकों के बीच एक कंट्रोल्ड कुश्ती की तरह है जिसमें वे हर उसे जिताते हैं जो उनके मनोरथ को पूरा करता है। हर किसी के ताक़तवर और कमज़ोर बिंदुओं की उनको गहरी पहचान है और इसीलिए वे कमज़ोर के तर्कों को हराने के लिए ताक़तवर के तर्क तथा प्रसंग जुटा कर कमज़ोर तर्कतीर्थ को अखाड़े से बाहर करते चलते हैं।

आलोचना उनके लिए एक अखाड़ा है जिसकी ज़मीन वे स्वयं तैयार करते हैं और जोड़ों को भी लड़ाते हैं, लेकिन जीतने वाला अंतिम दाँव उनका ही होता है। वे कृष्ण की तरह दुर्योधन और भीम के गदा-युद्ध में संकेतों से स्वयं को जिताते हैं। खण्डन-मण्डन की यह शैली संस्कृत काव्यशास्त्र और दर्शनों में पाई जाती है लेकिन 'पॉलिमिक्स का चुटीलापन' नामवर में मिलता है वह सीधे मार्क्सवादी चिंतकों से आता है। लेकिन नामवर में और मार्क्सवादी चिंतकों में एक फ़र्क़ है। मार्क्सवादी चिंतक जैसे मार्क्स या प्लेखानोव या लेनिन या ट्राट्स्की अपने प्रतिपक्ष से सीधे टकरा कर उन्हें निरुत्तर कर अपनी बात कहने में यक़ीन करते हैं ,लेकिन नामवर अपने प्रतिपक्ष को अन्य प्रतिपक्षी से लड़ाते हुए अपनी लाइन खींचने में यक़ीन करते हैं।

यही नामवर की नामवरी है!

रामविलास अपने प्रतिपक्ष से सीधे भिड़ते हैं। शिवदान भी सीधे टकराते हैं, लेकिन नामवर दूसरे जोड़ों को पहले अखाड़े में उतारते हैं और एक को जिता कर फिर उसे भी चित्त कर के वे अंत में अपनी लाइन का झण्डा फहराते हैं। शायद इसीलिए *कविता के नये प्रतिमान* में लगभग हर अध्याय में दूसरे लेखकों के सटीक उद्धरणों की ऐसी तर्क-शृंखला मिलती है जिसके ज़रिये *तार सप्तक* के प्रकाशन से लेकर बाद के 'सप्तकों' के प्रकाशन का (1943 से 1968 तक) यानी पच्चीस बरसों के बीच हुई 'नयी कविता' और उसकी रचना-प्रक्रिया और अर्थ-प्रक्रिया से संबंधित अधिकतर पहलुओं का एकमुश्त 'आख्यान' (नैरेटिव) या 'इतिहास' उपलब्ध हो जाता है।

यों यही काम *कहानी नयी कहानी* करती है और *दूसरी परम्परा की खोज* भी करती है लेकिन जिस नियोजित तरीक़े से नामवर *कविता के नये प्रतिमान* तलाशने की कोशिश करते हैं, वह नियोजन अन्य पुस्तकों में नहीं दिखता। यह एक शुरू से आख़िर तक एक सोची समझी गयी रणनीति के तहत लिखी गयी किताब है जबकि अन्य किताबें पश्चात्/संयोजित/सम्पादित या संकलित लगती हैं। नयी कविता संबंधी अन्य समीक्षा पुस्तकों के मुक़ाबले यह पुस्तक पहली 'इंटेलेक्चुअल टच' वाली पुस्तक कही जा सकती है।
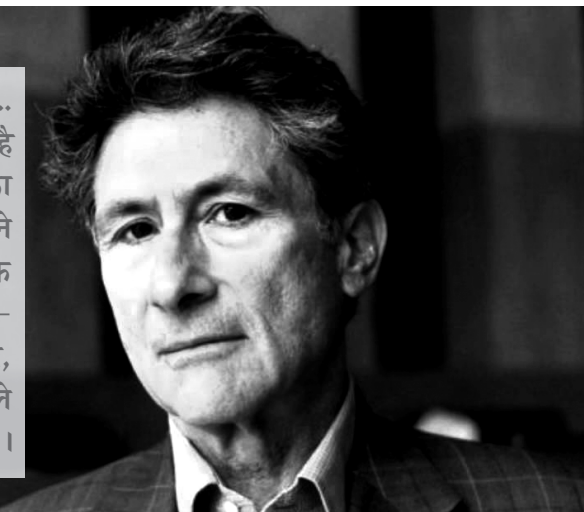
हिंदी में 'समीक्षा' की कमी नहीं। लेकिन गुण-दोष विवेचन मात्र समीक्षा नहीं हो जाता। जब तक समीक्षक की तर्कणाशक्ति अपने समय, समाज और अपने वक़्त की कृतियों से इंटेलेक्चुअली न टकराए, या कृति और उसके समय या रचनाकार के बीच पैदा होने वाले तनावों को जाग्रत न करे, तब तक कोई भी समीक्षा अपनी ज़रूरी 'बौद्धिक भूमिका' को निभाती नहीं मानी जा सकती। इसी बिंदु पर आलोचना रचना से जुड़ कर भी उससे अपनी स्वतंत्र जगह बनाती है। रचना के भीतरी और बाहर तनावों और अंतर्विरोधों को बता कर ही समीक्षा अपने देश-काल की समीक्षा बनती है और इसी क्रम में वह रचना की पिछलग्गू न बन कर उससे आज़ाद होकर उसकी अगुआ बन जाती है। वही रचना के सामाजिक स्वीकृति के लिए भूमिका तैयार करती है। बौद्धिक (इंटेलेक्चुअल) समीक्षा से यहाँ हमारा मतलब किसी शुष्क, वैचारिक दार्शनिक कसरत से नहीं है, बल्कि अपने समय के बौद्धिक क्षेत्रों में प्रचलित/स्वीकृत प्रस्थापनाओं को छेड़ने, झकझोरने और बदलने की क्षमता से है। रचना एकबारगी 'पैसिव' रह कर भी जिंदा रह सकती है, लेकिन समीक्षा अपनी स्थापना के लिए किसी 'पैसिवनेस' (निष्क्रियता या प्रतिक्रियाहीनता को) को गवारा नहीं कर सकती। इस मायने में हिंदी-समीक्षा में आधुनिक क़िस्म की बौद्धिकता का पहला चरण अगर भारतेंदु के दौर में लिखी समीक्षाओं को माना जाए, तो दूसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी के दौर को माना जा सकता है और तीसरा दौर शुक्लजी के दौर को कहा जा सकता है। उसके बाद समीक्षा का चौथा और असली बौद्धिक चरण मार्क्सवादी समीक्षा से ही आरम्भ होता है।

एडवर्ड सईद और समीक्षक की भूमिका

शीतयुद्ध के बीस तीस बरस के लम्बे दौर में (यही दौर नयी कविता का दौर भी है) मार्क्सवादी समीक्षा के भी दो स्कूल बन जाते हैं। एक स्कूल वह बनता है जिसे 'जड़ मार्क्सवादी' या 'यांत्रिक मार्क्सवादी' या 'कुत्सित समाजशास्त्री' स्कूल कहा जाता है, और दूसरा वह है जिसे 'नव्य समीक्षावादी' यानी 'रूपवादी', 'संशोधनवादी' और 'समर्पणवादी' कहा जाता है। इस घमासान में एक समीक्षक के रूप में नामवर सिंह की 'लोकेशन' को 'लोकेट' करना ज़रूरी है। इस संदर्भ में पहला सवाल यह उठता है कि नामवर सिंह क्या सिर्फ़ समीक्षक हैं या कि उससे कुछ अधिक हैं? अगर वे आम समीक्षक

होते तो और बहुत से आम 'मीडियाकर' समीक्षकों की तरह होते जो हिंदी में भरे पड़े हैं। लेकिन नामवर उस तरह के समीक्षक नहीं हैं। वे इन सबसे 'कुछ अधिक' हैं।

यह 'कुछ अधिक' होना क्या है? 'कहने की ज़रूरत नहीं' (यह नामवर का ही 'तकियाकलाम' है) कि नामवर 'कुछ अधिक' हैं क्योंकि वे *कविता के नये प्रतिमान* में साहित्य और समीक्षा से तीखी और आधुनिक क़िस्म की बौद्धिकता की माँग करते हैं। आधुनिक क़िस्म की बौद्धिकता से हमारा मतलब एडवर्ड सईद के 'बौद्धिक' से है। आलोचक को सिर्फ़ साहित्यालोचक मान कर हमने आलोचना-कर्म को सिर्फ़ साहित्य की आख्या-व्याख्या तक सीमित मान लिया है, जबकि एडवर्ड सईद उसे इससे अधिक बताते हैं। वे आलोचक को 'बुद्धिजीवी' मानते हैं और इस तरह उसे 'समाज-समीक्षक' का दर्जा देते हैं। सईद मानते हैं कि 'बुद्धिजीवी अपने समय की संस्कृति का संगठक (ऑर्गनाइज़र)होता है। वह अपने वर्ग यानी पढ़े-लिखे समाज को नयी समझ देता है और अपने 'फ़ॉलोअर' बनाता है। सईद के अनुसार रचना 'की' नहीं जाती बल्कि वह 'होती' है यानी 'घटित होती' है। इसी कारण लेखक समाज को न केवल 'प्रभावित करता' है, बल्कि उससे प्रभावित होता है। सईद की सबसे मौलिक अवधारणा है : समीक्षा और समीक्षक के सेकुलर होने की अवधारणा। ऐसा समीक्षक सिर्फ़ बौद्धिक क़िस्म की 'विशेषज्ञता' का क़ायल नहीं होता। अपने समय के राजनीतिक यथार्थ से अपने जुड़ाव के कारण ही वह 'सत्ता से सत्य की बात' (टॉकिंग ट्रुथ टू पॉवर) करता है।

ध्यान से देखें तो ग्राम्शी का 'ऑर्गनिक इंटेलेक्चुअल' सईद में आ कर थोड़ा बदल जाता है। वह 'ऑर्गनिक'(आवयविक) के अलावा 'साहित्यिक इंटेलेक्चुअल' भी बन जाता है। साहित्य के समीक्षक की भूमिका को जितना गहराई से एडवर्ड सईद ने खँगाला उतना उनके समकालीनों में और बाद वालों तक में किसी ने नहीं खँगाला। सईद के यहाँ समीक्षक एक बुद्धिजीवी है। समीक्षा-कर्म सईद के लिए एक प्रकार का 'फ़ंक्शन' है यानी एक प्रकार का 'सोशल फ़ंक्शन' है। समीक्षक एक 'सोशल फ़ंक्शनरी' होता है। आज के शब्दों में हम उसे साहित्य का 'एक्टिविस्ट' भी कह सकते हैं जो साहित्य में 'एक्शन' करता है और उसे 'एक्टिव' रखता है। एडवर्ड सईद कहते हैं कि किसी रचनाकार की तरह ही समीक्षक भी अपने समाज में रहता है, उसी में अपना काम करता है। इसी अर्थ में समीक्षक 'एक संस्थान' होता है जो रचना के मूल्य निर्धारण का काम करता है। जब समीक्षा कर्म का स्पेशलाइजेशन हो जाता है यानी समीक्षक स्पेशलिस्ट हो जाता है त्यों ही समीक्षक और उसकी 'जनता' (यानी रचना व आलोचना के पाठकों) के बीच दरार पैदा हो जाती है। इसके बरअक्स बौद्धिक समीक्षक एक 'पब्लिक इटेलेक्चुअल' होता है जिसके काम का मिज़ाज 'प्रतिरोधात्मक' होता है। सईद ने साहित्य के समीक्षक को इंटेलेक्चुअल के रूप में स्थापित कर समीक्षक की वर्चस्वकारी भूमिका को रेखांकित कर दिया यानी कि गाम्शी के 'आवयविक (आर्गनिक) बुद्धिजीवी' की तरह समीक्षक भी साहित्य का 'आवयविक' अंग होता है जो लोगों को साहित्य सजग करता है। उनकी समझ को बढ़ाता है। सईद के शब्दों में ऐसे बुद्धिजीवी वर्चस्वकारी समुदाय के 'डेपुटी' होते हैं। सईद ने ये अवधारणाएँ अपनी रचना द *वर्ल्ड, द टेक्स्ट ऐंड द क्रिटिक* में विस्तार से पेश की हैं।

नामवर को लोकेट करना हो तो सईद की उक्त अवधारणाएँ बड़ी उपयोगी हैं। उन्हें आधार बनाकर हम नामवर को सहज ही अपने समय का एक बड़ा 'इंटेलेक्चुअल समीक्षक' कह सकते हैं। वे सिर्फ़ समीक्षक नहीं है बल्कि साहित्य के 'संगठक' भी हैं। इसी संदर्भ में हम नामवर की सबसे महत्त्वाकांक्षी पुस्तक *कविता के नये प्रतिमान* को 'पढ़ना' चाहते हैं। एक मायने में यह नामवर का सबसे 'दुर्वह प्रयत्न' है और इस लेखक का भी!

समकालीन हो कर, समकालीन साहित्यिक रचनाओं का आख्यान कहना एक कठिन कर्म है, क्योंकि अपने समय की रचना से अपेक्षित दूरी नहीं हो पाती। अपनी तात्कालिकता में बहुत-सी घटनाएँ, बहुत सी सूचनाएँ अपने पूरे अर्थ नहीं खोल पातीं। उनके मायनों में ठहराव नहीं आ पाता और

नयी कविता को समझने के लिए नये क़िस्म की समीक्षा की आवश्यकता है और उसे अमेरिकी नव्य समीक्षा की कुछ अवधारणाओं की सहायता से बेतहर विकसित किया जा सकता है। इसका जैसा तीखा अहसास नामवर को रहा वैसा उनके समकालीन किसी समीक्षक को नहीं रहा। इस मानी में वे बिला शक नयी कविता के प्रतिनिधि और शायद एक मात्र समीक्षक हैं।

नामवर सिंह और नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर श्रीकांत वर्मा

इस तरह उनको नापना कठिन होता है, लेकिन नामवर इस घमासान में पूरे साहस के साथ उतरते हैं।

नामवर की पुस्तक के नाम में एक दुविधा नज़र आती है : कहा जा सकता है कि उन्हें नयी कविता के प्रतिमान खोजने थे तो शीर्षक 'नयी कविता के प्रतिमान' रखने में क्या बुराई थी। इसका एक कारण तो यह है कि उनसे पहले लक्ष्मीकांत वर्मा 'नयी कविता के प्रतिमान' की चर्चा चला चुके थे। इसलिए वैसा शीर्षक देना नक़ल कहलाता जब कि *कविता के नये प्रतिमान* का मतलब हैं कि 'कविता' तो एक शाश्वत क्रिया है। हाँ, उसके प्रतिमान बदलते रहते हैं, इसलिए बदलते प्रतिमानों को खोजना है तो *कविता के नये प्रतिमान* टाइटिल ही ठीक है। पुस्तक में स्वयं नामवर इस टाइटिल का बचाव करते हैं। यहाँ नामवर का कविता को शाश्वत जैसा मानना अपने आप में एक समस्या है लेकिन हमारी पठंत में यह एक मामूली मुद्दा है। देखना यह चाहिए कि यह पुस्तक किस तरह से प्रतिमान खोजती है और उन्हें स्थपित करती है?

कविता के नये प्रतिमान खण्डन-मण्डनात्मक या विवादात्मक (पॉलिमिकल) शैली में लिखी गयी पुस्तक है। ऐसे में लेखक की अपनी स्थापनाएँ सीधी सामने नहीं आतीं बल्कि दूसरों के तर्कों के खण्डन-मण्डन के ज़रिये आती हैं। नामवर अपने प्रतिमानों को प्राय: अपने शब्दों में कम बल्कि दूसरों के शब्दों में अधिक कहते हैं। इसी कारण उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क-शृंखला में से उन स्थापनाओं को अलग से निकालना पड़ता है जो नामवर की अपनी हैं। इसी कारण हमने यहाँ नामवर के इस 'टेक्स्ट' को शुरू से आख़िर तक 'ट्रेस' करने की कोशिश की है।

'छायावाद' व 'रस-सिद्धांत' का निपटान बतर्ज़ नामवर

यूँ तो पुस्तक के पहले अध्याय में ही 'कविता क्या है?' जैसे बुनियादी सवाल को उठा कर नामवर साफ़ कर देते हैं कि कविता के कर्म में ऐसा कुछ घट चुका है कि कविता के अंदर-बाहर का बहुत कुछ बदल गया है। इस 'बदल गये' को टटोलने के ज़रिये ही नामवर इस अध्याय में, दूसरे अध्याय *कविता के नये प्रतिमान* के लिए जगह बनाते हैं। जगह बनाने के लिए पुराने की 'सफ़ाई' की जानी चाहिए। यह सफाई नामवर अपनी क़लम से करते हैं।

उनकी नज़र में नयी कविता को देखने के रास्ते में बाधा बनने वाली एक बड़ी समस्या चले आते छायावादी और रसवादी संस्कारों की है। उनको बदले बिना आप 'नये प्रतिमान' स्थिर नहीं कर सकते। नामवर का असल कमाल यहीं नज़र आता है। पहले अध्याय में वे सबसे पहले कविता में चले आते 'अनुभूति' के मानक से निपटते हैं। नये कवि जगदीश गुप्त से लेकर नगेंद्र तक मानते हैं कि कविता का मूल तत्त्व है 'अनुभूति' (*कविता के नये प्रतिमान,* पृ. 20)। छायावादी कविता में हर आलोचक 'कवि की अनुभूति' ही खोजा करता था। जो अनुभूति छायावादी की कविता का मानक रही वही

अनुभूति अगर नयी कविता का मानक भी मानी जाती हो तो अनुभूति और अनुभूति में फ़र्क़ करना ज़रूरी हो जाता है। नामवर के अनुसार जगदीश गुप्त नयी कविता को छायावाद से जोड़ना चाहते हैं, जबकि नगेंद्र उसे छायावााद में ही समेटना चाहते हैं।

इसे देख नामवर कहते हैं कि 'छायावादी संस्कार आज भी (यानी कविता के नये प्रतिमान लिखते वक़्त तक) प्रबल हैं'... 'इन प्रतिमानों के रहते नयी कविता की स्वीकृति का कोई अर्थ नहीं। जब तक नयी कविता इस संस्कार को तोड़ कर अपने लिए उसमें जगह नहीं बनाती ... तब तक नयी कविता बौद्धिक रूप से स्वीकृत होकर काव्यबोध के स्तर पर हिंदी साहित्य के इतिहास में एक तथ्य मात्र है।' छायावादी संस्कारों से मुक्त करने की छटपटाहट सिर्फ़ हिंदी कविता में ही नहीं दिखती, बल्कि उससे पहले वह अंग्रेज़ी कविता में भी दिखती है। यह बात नगेंद्र भी अपने *रस सिद्धांत* में मानते हैं जिसे नामवर अपने पक्ष में सटीक तरीक़े से इस तरह उद्धृत करते हैं कि 'अमेरिका और इग्लैण्ड में नये कवियों ने जिस प्रकार स्वच्छंदतावाद का विरोध किया है, उसी प्रकार भारतीय भाषाओं में भी (हिंदी, मराठी और बंगला आदि में) स्वच्छंदतावाद के साथ-साथ उसके समानधर्मा रसवाद का भी योजनाबद्ध ढंग से विरोध किया जा रहा है।'

छायावाद और रसवाद का एक प्रतिमान है 'अनुभूति' और दूसरा प्रतिमान है 'उच्छ्वास' या 'हृदय का उच्छ्वास'। इस शब्द प्रवर्तन के समक्ष नगेंद्र रसवाद को 'नव भावाभिव्यंजनावाद' कहने लगते हैं ताकि रसवाद नयी कविता समझने में सक्षम नज़र आये। नयी कविता बिम्ब के ज़रिये नये भावों की अभिव्यंजना करती है। नव 'भावाभिव्यंजनावाद' बिम्बों की व्याख्या करने में सक्षम है इसलिए नयी कविता के प्रतिमान रसवाद के घेरे में ही रहते हैं। नामवर के हिसाब से नगेंद्र का 'रस-सिद्धांत' नयी कविता का पीछा आसानी से छोड़ने वाला नहीं है। उनके अनुसार बिम्ब कलात्मक अनुभूति का प्रमाण हैं। प्रमाण के लिए वे अज्ञेय की 'सोन मछली' कविता की रसवादी व्याख्या करके सिद्ध करते हैं कि मछली के बिम्ब के शब्द चित्र को रससिक्त करने वाली संवेदना ही मानव चेतना है। मानवचेतना का स्पर्श पाकर ही बिम्ब रस से सिक्त होकर ग्रहण होता है। नगेंद्र कहते हैं कि बिम्ब निश्चय ही कला की सिद्धि है, पर उस बिम्ब को जीवंत करने वाला तत्त्व तो मानव चेतना का स्पर्श ही है और उसी का नाम रस है। यानी नयी कविता का रूपाकार भले बदल गया हो, लेकिन कविता का अनिवार्य तत्त्व 'अनुभूति' वही का वही है। वह नहीं बदला है। इसलिए रसवाद ही उसका अधिकृत व्याख्याता हो सकता है। नगेंद्र के तर्क इसी तरह से चलते हैं। 'सोन मछली' कविता की 'मछली' कवि अज्ञेय को 'हाँफती' लगती है, लेकिन नगेंद्र को वही 'थिरकती' हुई लगती है। अज्ञेय का नया अनुभव मछली को हाँफता पाता है, जबकि रसवादी नज़र में वह थिरकती हुई दिखती है।

नामवर इस फ़र्क़ का कारण रूप और भाव को अलग-अलग करके देखने की द्वैत-दृष्टि को मानते हैं, जो रूप और भाव को अलग-अलग मान कर चलती है। हमारा मानना है कि यह दो नज़रियों का फ़र्क़ है। रचनाकार मछली को हाँफता महसूस करता है, आलोचक उसे थिरकता महसूस करता है। लेकिन नामवर इस भेद को सिर्फ़ 'रूप' और 'भाव' के 'द्वैत' के हवाले कर देते हैं, जबकि यह भेद 'नये यथार्थ' और 'पुराने यथार्थ' के बीच का है। बदलते यथार्थ के साथ अनुभव बदल रहे हैं— इतना कहना काफ़ी होता।

अपने विचलन को जल्दी ही महसूस कर नामवर फिर अपनी नयी सैद्धांतिक ज़मीन पर आते हैं।

छायावादी-रसवादी काव्य-सिद्धांत के दौर में एक और साहित्य-मानक खूब -चला। यह था 'आस्था'! नगेंद्र ने *आलोचक की आस्था* लिखी जबकि मार्क्सवादी आलोचक राममिलास शर्मा में भी इस 'आस्था' का खूब बोलबाला रहा। उन्होंने *आस्था और सौंदर्य* की रचना की। नामवर इसी 'आस्था' यानी 'फेथ' पर चोट करते हुए साही को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि 'अनुभूति की सार्वजनीनता अपनी अनुभूति के प्रति कृतिकार की 'तटस्थता' और 'निर्वैयक्तिकता' से उत्पन्न होती

एक कविता–गोष्ठी में हरिवंश राय 'बच्चन' और रामधारी सिंह 'दिनकर'

है। । इसलिए नहीं कि हमारे बीच के 'मान्य सत्य' या 'आस्थाएँ' चिरंतन एवं समान हैं, बल्कि इसलिए कि चिरंतन 'तथ्य' के दबाव में हम रह रहे हैं।' इसी बात को नामवर और साफ़ करते हुए कहते हैं कि 'कवि और पाठक के बीच जोड़ने वाली कड़ी 'आस्था' नहीं 'यथार्थ' है।' इसके ठीक आगे के पैरा में नामवर कहते हैं कि 'यही कारण है कि नयी कविता छायावाद के समान ही 'अनुभूति' पर बल देते हुए भी भावों की शाश्वतता के प्रति उतनी आश्वस्त नहीं है। इसलिए नये कवि अनुभूति से अधिक अनुभूतियों के परिवर्तित संदर्भ पर विशेष बल देते हैं।'

_कविता के नये प्रतिमान_ यह भी स्पष्ट करती है कि नयी कविता क्यों 'बौद्धिक' और 'ऐलिटिस्ट' होती गयी और क्यों छायावादोत्तरी कवियों यथा बच्चन व दिनकर आदि की कविताएँ 'भावोच्छ्‌वासी' कही जा कर 'हीन' बना दी गयीं। इसके लिए अज्ञेय से लेकर रघुवीर सहाय तक सभी नये कवि ज़िम्मेदार हैं साथ ही प्रतिमान के खोजी नामवर भी ज़िम्मेदार हैं। इसीलिए आज अपनी जनता से 'कविता' एकदम कटी नज़र आती है। ऐसा लगता है कि जहाँ 'कविता' है वहाँ जनता नहीं, जहाँ जनता है वहाँ कविता नहीं है।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए नामवर अज्ञेय की इन लाइनों को उद्धृत करते हैं जो कहती हैं कि 'जैसे जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे–वैसे उससे हमारे रागात्मक संबंध जोड़ने वाली प्रणालियाँ भी बदलती हैं ... और अगर नहीं बदलती तो हमारा उस वास्तविकता से संबंध टूट जाता है। कहना न होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं, वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं जो आज की वास्तविकता है। इस तरह लम्बे खण्डन–मण्डन के बाद नामवर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'यदि नयी कविता को कविता के रूप में जाँचना–परखना है तो काव्यानुभति की इस बदली हुई बनावट को ध्यान में रख कर ही परिभाषा करनी पड़ेगी। वे फिर अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए विजय देव नारायण साही से कहलवाते हैं कि 'समूची नयी कविता को ठीक–ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की ज़रूरत नहीं बल्कि कविता के नये प्रतिमान की ज़रूरत है।

नामवर अपने प्रतिपक्षी से सीधे नहीं टकराते। वे पूर्ववर्ती या समकालीनों के उद्धरणों के हवाले से एक ऐसा तर्कसंगत नैरेटिव गढ़ते हैं कि लगे कि प्रतिपक्ष द्वारा जो स्थापित किया गया है, उसके खण्डन में वे अकेले नहीं हैं, बल्कि अन्य बहुत से हैं। पुराने का तिरस्कार और नये के लिए जगह बनाने के लिए सबसे तगड़ा हमला वे नगेंद्र के रस-सिद्धांत पर करते हैं, उनके छायावादी भावबोध पर करते हैं। इसके लिए वे उनके विरोध में कभी अज्ञेय को जुटाते हैं, कभी साही को लगाते हैं, तब जाकर अपनी बात कहते हैं। इस पुस्तक की विवादप्रियता का यही कारण है।

अगले अध्याय *कविता के नये प्रतिमान* में नामवर एक बार फिर पुराने प्रतिमानों को 'पुराने संस्कार' कह कर 'नये' के लिए जगह बनाते हैं। उनकी नज़र में 'नये से नये प्रतिमानों के लिए सबसे बड़ी चुनौती छायावादी संस्कार हैं।'

नामवर की एक बड़ी समस्या अवशिष्ट छायावादी संस्कार हैं। वे स्वयं *छायावाद* के नाम से एक पूरी पुस्तक लिख चुके हैं, लेकिन अब नयी कविता की चुनौती सामने है, इसलिए पहले वे छायावादी संस्कारों से लड़ते हैं। इसीलिए छायावाद के साथ वे एक आत्मीय किंतु लम्बे वैचारिक संघर्ष में संलग्न होते हैं। *कविता के नये प्रतिमान* नामक अध्याय में इसीलिए वे छायावाद के बचे-खुचे संस्कारों से टकराते हैं।

वे बताते चलते हैं कि किस तरह छायावाद का 'अंत' घोषित हो चुका है, कि किस तरह छायावादी भाषा की जगह नयी भाषा ले रही है। सियाराम शरण गुप्त के हवाले से वे बताते हैं कि किस तरह 'नीरस तरुरिह विलसति पुरत:' की भाषा छायावादी संस्कार की भाषा कही जा सकती है और 'शुष्कोवृक्ष:तिष्ठत्यग्रे' की भाषा नयी कविता की भाषा के नज़दीक बैठती है। 'कोमल कांत' पदावली की जगह, रूखी और कठोर भाषा नयी कविता की भाषा के नज़दीक है। यहीं वे कबीर की भाषा और नयी कविता की भाषा में नज़दीकी देखते हैं।

नामवर की शिकायत है कि प्रयोगशील कविता ने शुरुआती प्रतिक्रिया के बाद छायावादी संस्कारों को निर्मूल करने का गम्भीर प्रयास नहीं किया। केदार नाथ सिंह के एक लेख की लाइनें उद्धृत करते हुए वे बताते हैं कि रोमांटिक और आधुनिक के बीच जो स्पष्ट विभाजन अब तक हो जाना चाहिए था वह अगली पीढ़ी तक के लिए स्थगित कर दिया गया। सब प्रयोग-प्रयोग खेलते रहे, लेकिन 'यथार्थ दर्शन से उत्पन्न होने वाली कुण्ठा के मूल में जाने की ज़रूरत नहीं' समझी गयी। सिर्फ़ मुक्तिबोध ने नयी कविता के इस समझौतावादी रुख़ का विरोध किया। यही कारण रहा कि नयी कविता के पूरे दौर में मुक्तिबोध प्राय: उपेक्षित रहे। नयी कविता ने कहीं न कहीं पूर्ववर्ती रोमांटिकता के साथ चुपचाप समझौता कर लिया।

सावधान करते हुए नामवर आगे कहते हैं कि कविता के नये प्रतिमानों को निर्धारित करते समय अंतर्निहित रोमांटिक संस्कारों का आत्म-विश्लेषण करना आवश्यक है। प्रतिमान-निर्धारण करने का मतलब है कि प्रतिमानों को स्थिर किया जाए, उनको व्यवस्था दी जाए उनको सूत्रबद्ध किया जाय! लेकिन नामवर जानते हैं कि 'प्रतिमानों को सूत्रबद्ध करने के अपने ख़तरे हैं'।

नयी कविता, नामवर और नव्य समीक्षा

एक तरफ़ यह ख़तरा है, तो दूसरी तरफ़ नयी कविता द्वारा पेश की जाती चुनौतियाँ भी हैं : 'नयी कविता ने कविता के नये मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के साथ ही कविता की नयी पद्धति की आवश्यकता भी प्रदर्शित की है'। साफ़ है कि नयी कविता को नये पाठक चाहिए, 'अतीतजीवी अबोध या जड़ पाठक' नहीं चाहिए।

नयी कविता के विकास के साथ नये-नये मुद्दे उठ रहे हैं। अज्ञेय *तीसरा सप्तक* की भूमिका में कविता के 'विषय और वस्तु' को अलगाते हैं। नामवर उन्हें उद्धृत करते उनसे कहलवाते हैं कि

नामवर की समीक्षा-पद्धति अपने ढंग की 'खण्डन-मण्डनात्मक' क़िस्म की एक जटिल समीक्षा पद्धति है। यह जटिलता इसलिए आती है क्योंकि वे अपनी बात भी दूसरों विद्वानों के 'ब्याज' से (यानी उद्धरणों से और तर्कों से) कहते हैं और इस चक्कर में दूसरों की तर्कपद्धति की ताक़त तो उनको मिलती ही है उनकी कमज़ोरियाँ भी जाने-अनजाने उनको स्वीकार करनी पड़ती हैं। वे अपने शब्दों में अपना पक्ष कम ही कहते हैं और ऐसा लगता है कि उनसे अधिक सटीक तो दूसरे हैं। इसीलिए विजय देव नारायण साही उनकी समीक्षा में उनके उस्ताद की तरह उभरते हैं मानो साही से बड़ा उस वक़्त कोई दिमाग़ न हो। यह बात इस लेखक को कुछ हज़म नहीं होती।

विजय देव नारायण साही

'विषय' सम्प्रेष्य नहीं होते बल्कि 'वस्तु सम्प्रेष्य' होती है।

हम इसे और स्पष्ट करें। अज्ञेय का कहना है और नामवर का मानना है कि कविता के 'विषय' मनुष्य से लेकर प्रकृति के तमाम रूप में से हो सकते हैं, लेकिन सम्प्रेष्य सिर्फ़ उनके अंतर्निहित मायने ही हो सकते हैं। विषय यानी कविता का ऊपरी और शाब्दिक कलेवर, वस्तु यानी कवि का अभिप्रेत! यही 'अभिप्रेत' आलोचक के लिए 'ग्राह्य' है। आप कविता के किसी बिम्ब विधान की प्रशंसा करें और उसके कथ्य का तिरस्कार करें, ऐसी आलोचना ठीक नहीं। आलोचना होती है तो 'समग्र कविता' की होती है

यहीं दो तीन पैरों में नामवर नयी कविता की पाठ/पद्धति की ओर इशारा करते हैं कि 'प्रस्तुत शब्दों से प्रारम्भ करके विविध अर्थ-सरणियों पर क्रमशः संचरण करते हुए सम्भाव्य कथ्य तक पहुँचने में आलोचक को स्वयं जो आभास होता है उसी से वह कवि की शब्द-साधना का भी अनुमान करता है और तदनुसार मूल्यांकन भी करता है ... कथ्य से अलग शब्दों और बिम्बों की सुंदरता का सवाल ही नहीं उठता ... इसलिए मूल्य-निर्णय समग्र होता है।

इस तरह नयी कविता 'अवधानता की अपेक्षा' रखती है यानी हर नयी कविता अवधानतापूर्वक पाठ की अपेक्षा रखती है।'यह सतर्क विश्लेषण/पद्धति केवल पद्धति नहीं बल्कि मूल्यांकन का अनिवार्य अंग है। यानी यह पद्धति में ही मूल्यांकन निहित है।

जिस तरह पहले अध्याय में नामवर नगेंद्र से निपटते हैं, उसी तरह दूसरे में वे रामविलास शर्मा से निपटते हैं। यहाँ वे रामविलास की पुस्तक *आस्था और सौंदर्य* में 'आस्थावादी नज़रिये को ही ख़ारिज करते हैं, क्योंकि आस्थावादी हर कविता में अपनी आस्था का सामान तलाशता है और न मिलने पर उस कविता को ख़ारिज कर देता है। ज़ाहिर है कि नामवर कविता के किसी वस्तुनिष्ठ अ-सरल मानक को आस्था-संचालित सरल मानक से अधिक सटीक मानते हैं।

इसके आगे नामवर नयी कविता के अपने काव्य-सिद्धांत की चर्चा इस तरह करते हैं : 'नयी कविता ने अपने 'अंतर्ग्रंथन' द्वारा यह काव्य-सिद्धांत प्रस्तुत किया कि कविता में किसी 'सामान्यता'... सामान्य विचार भाव या धारणा ... का 'वक्तव्य' उतना नहीं होता जितना एक स्थिति-विशेष का नाट्यकरण या नाट्यरूपांतर।

नाट्यरूपांतर का तत्त्व कविता में ब्योरे का महत्त्व बढ़ा देता है और ये ब्योरे हमें देशकाल से जोड़ देते हैं। यहीं शब्दार्थ की सामाजिकता साफ़ होती है। आगे वे सीधे शब्दार्थ की समस्या को खोलते हैं। इसके लिए वे अज्ञेय की *तीसरा सप्तक* की भूमिका को उद्धृत करते हैं कि 'शब्द की अर्थवत्ता की खोज में शब्द की ऐतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख दोनों निहित हैं और अर्थवान शब्द का सम्प्रेषण हो ही नहीं सकता बिना युगसम्पृक्ति के।' (ध्यान दीजिए : अज्ञेय कह रहे हैं कि शब्द अपने युग से ही अर्थवान होते हैं। आश्चर्य कि अज्ञेय शब्द की सामाजिकता की बात कर रहे हैं और नामवर उसे अपने पक्ष में उद्धृत कर रहे हैं। ऐसे में अज्ञेय को 'रूपवादी' ठहराना कहाँ तक उचित है?)

इसके ठीक आगे नामवर कविता की 'सापेक्ष स्वायत्तता' के 'सिद्धांत' की बात करते हैं। इसके लिए वे अपने पक्ष में एक ओर अभिनवगुप्त से लेकर मम्मट तक को नियुक्त करते हैं, दूसरी ओर टी.एस. इलियट को नियुक्त करते हैं। वे कहते हैं कि एक वक़्त में अभिनवगुप्त से लेकर मम्मट ने जिस प्रकार कविता की स्वकीयता, स्वायत्तता और सापेक्ष स्वतंत्रता की स्थापना की थी और आधुनिक काल में इलियट ने 'द सेक्रेड वुड' द्वारा कविता की निजी 'इंटेग्रिटी' की रक्षा का प्रयास किया। नयी कविता ने हिंदी में आज कविता के उसी स्वधर्म की प्रतिष्ठा का संकेत दिया है। कहना न होगा कि यह मान्यता कविता के तथाकथित सभी नये प्रतिमानों की आधारशिला है।

कविता की 'इंटेग्रिटी' की रक्षा करने के क्रम में कविता के मनमाने अर्थ करने वाले आलोचकों को आड़े हाथ लेते हुए नामवर एक बार फिर कहते हैं कि 'अवधानतापूर्वक काव्यपाठ की पद्धति इतनी ठोस वस्तुगत और परीक्षण के लिए इतनी खुली हुई, इसलिए श्रमसाध्य है कि यहाँ आसानी से फ़तवे देने की गुंजाइश कम से कम है।' यानी अगर आप नयी कविता का 'अवधानतापूर्वक पाठ' करके मूल्यांकन करें तो कविता को मनमाने फ़तवे नहीं दे सकते क्योंकि कविता को 'अवधानतापूर्वक' पढ़ने की पद्धति एक 'वस्तुगत पद्धति' है।

इस तरह कविता के नये प्रतिमान हैं : कविता की स्वायत्तता और सापेक्ष स्वतंत्रता, कविता का अंतर्ग्रंथन और कविता का अवधानतापूर्वक काव्यपाठ!

नामवर की नव्य समीक्षा

हमने देखा कि *कविता के नये प्रतिमान* के पहले दो अध्याय में कविता के पुराने प्रतिमानों को नामवर नये प्रतिमानों के लिए नयी वैचारिक ज़मीन तैयार करते हैं। बाद के दो अध्याय भी जैसे 'रस के प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता' और 'मूल्यांकन की समस्या : छायावादोत्तर कविता' पहले वाले दो अध्यायों का एक प्रकार से विस्तार हैं, क्योंकि नये प्रतिमानों को स्थापित करने के लिए बचे-खुचे पुराने प्रतिमानों को किनारे करने का काम अभी बचा हुआ है।

हम फिर दुहरा दें : नयी कविता को समझने में दो बड़ी बाधाएँ हैं। पहली बाधा है : छायावादोत्तरी कविता के अवशेष। दूसरी बाधा है : रस-सिद्धांत के मानक और उसमें भी रस-सिद्धांत को साहित्य का शाश्वत सिद्धांत मानने वाले आचार्य नगेंद्र! नगेंद्र ऐसे अंतिम रसवादी आचार्य रहे जो नयी कविता में भी रस का दर्शन कर लेते थे। जैसा कि अज्ञेय की 'सोन मछली' कविता के संदर्भ में हमने देखा। दरअसल, जिन दिनों नयी कविता विकसित हो रही थी उन दिनों नगेंद्र का हिंदी साहित्य जगत में ख़ासा दबदबा था। ज़रूरत नगेंद्रीय रस-सिद्धांत के खण्डन की थी ताकि कविता के नये प्रतिमानों को रस के खूँटे से आज़ाद किया जा सके।

यूँ तो नामवर रस-सिद्धांत को निपटाने का काम पहले अध्याय में कर चुके थे, लेकिन यहाँ ज़रा और जम के करते हैं। इसके लिए वे रामचंद्र शुक्ल को और अभिनवगुप्त को अपने पक्ष में तैनात करते हैं, और लम्बे रस-विमर्श के बाद रस की जगह अभिनवगुप्त की 'रस-ध्वनि' का सहारा लेते हैं
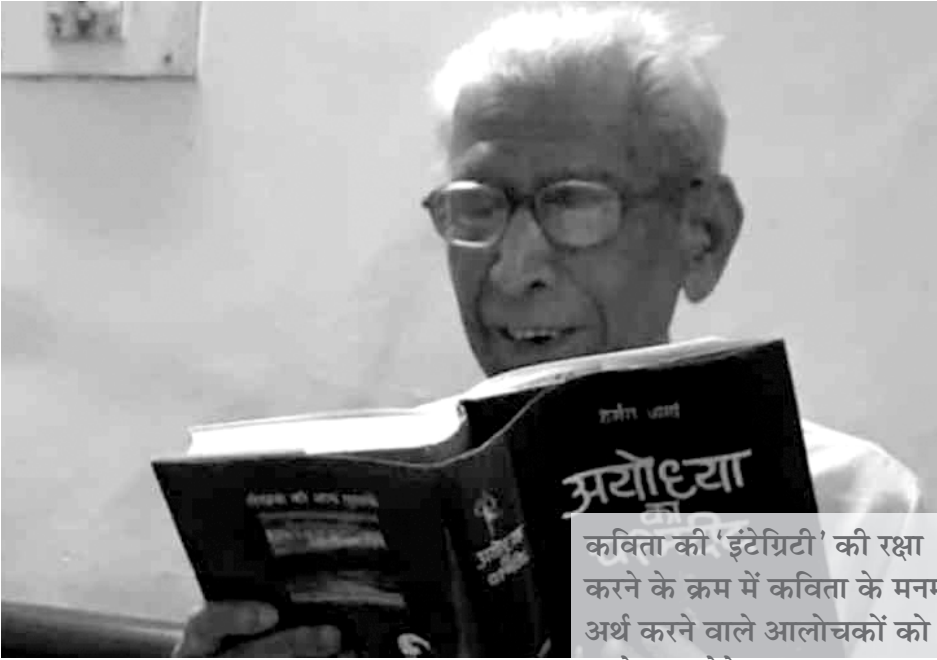
कविता की 'इंटेग्रिटी' की रक्षा करने के क्रम में कविता के मनमाने अर्थ करने वाले आलोचकों को आड़े हाथ लेते हुए नामवर एक बार फिर कहते हैं कि 'अवधानतापूर्वक काव्यपाठ की पद्धति इतनी ठोस वस्तुगत और परीक्षण के लिए इतनी खुली हुई, इसलिए श्रमसाध्य है कि यहाँ आसानी से फ़तवे देने की गुंजाइश कम से कम है।' यानी अगर आप नयी कविता का 'अवधानतापूर्वक पाठ' करके मूल्यांकन करें तो कविता को मनमाने फ़तवे नहीं दे सकते क्योंकि कविता को 'अवधानतापूर्वक' पढ़ने की पद्धति एक 'वस्तुगत पद्धति' है।

और कहते हैं कि रस-निर्णय 'अर्थ निर्णय' पर ही निर्भर होता है। और 'अर्थ निर्णय' कोरी अनुभूति का विषय नहीं बल्कि काव्य के सूक्ष्म विश्लेषण से सम्बद्ध है। इस तरह कविता के लिए रस-मीमांसा की जगह अर्थ-मीमांसा ही अभीष्ट है।

रस-सिद्धांत पर सिर्फ़ नामवर को ही आपत्ति नहीं है बल्कि अज्ञेय को भी है । नामवर अज्ञेय को उद्धृत कर उनसे कहलवाते हैं कि रस का अर्थ है द्वंद्वों की समाहिति, यानी अ-द्वंद्व जबकि नयी कविता द्वंद्व और असामंजस्य की कविता है। यही नहीं, रस अतीतोन्मुखी होता है, जबकि नयी कविता का विषय है क्षणिक अनुभूति। लेकिन, नामवर रस का पूरी तरह निषेध भी नहीं करते बल्कि रस-ध्वनि की ओर जाकर अर्थ-मीमांसा को अपनाने पर बल देते हैं।

यहीं से नामवर अमेरिकी 'नव्य समीक्षा' को अपने पक्ष में खड़ा कर कहते हैं कि आधुनिक मानव को काव्य द्वारा मनोबल प्रदान करना और टूटती हुई काव्य परम्परा की रक्षा ... ये दो मुख्य ध्येय 'नव्य समीक्षा' (न्यू क्रिटिसिज़म) के भी रहे हैं। नामवर यहाँ वही करना चाह रहे हैं जो अमेरिका में नव्य समीक्षा ने किया : एक ओर वे रस-ध्वनि के ज़रिये काव्य-परम्परा की हिफ़ाज़त करना चाहते हैं। दूसरी ओर 'नये प्रतिमान' खोजकर आधुनिक मानव की काव्याभिरुचि को 'नया' कर उसका मनोबल बढ़ाना चाहते हैं।

नामवर फिर से विजय देव नारायण साही को अपना वकील नियुक्त करके नगेंद्र को लगभग डाँटते हुए कहते हैं कि साही ने कहा कि 'काव्य के ढाँचे पर जाइए।' ढाँचे यानी स्ट्रक्चर को देखना

कविता का एक और 'नया प्रतिमान' है। इसी प्रसंग में वे रघुवंश की इन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र सदा से वस्तुगत चिंतन और रूपवादी विश्लेषण पर बल देता है। इस तरह हिंदी में नव्य समीक्षा की ज़मीन तैयार हो जाती है : एक ओर नव्य समीक्षा का काव्य के ढाँचे पर ज़ोर देना दूसरे भारतीय काव्यशास्त्र का भी वस्तुपरकता और रूप यानी ढाँचे पर ज़ोर देना।

नामवर की समीक्षा-पद्धति को समझना हो तो नये प्रतिमानों की खोज और स्थापना की उनकी पद्धति को देखें। जैसा हम बता चुके हैं, वे किसी पुरानी काव्य अवधारणा या प्रतिमान का सीधे खण्डन नहीं करते। पहले वे पूर्वपक्ष की सीमाओं पर कटाक्ष करते हैं फिर उसके खण्डन के लिए किसी अन्य भारतीय या पश्चिमी विद्वान के सटीक उद्धरणों को अपने पक्ष में जुटाते हैं और फिर अपनी बात कुछ शब्दों में कहते हैं। नामवर का बहुपाठी होना इस काम में उनकी मदद करता है। *कविता के नये प्रतिमान* नयी कविता के पक्ष में नामवर का चलाया वह सुदीर्घ मुक़दमा है जिसे जीतने के लिए वे जितने तर्क देते हैं उससे अधिक अपने पक्ष में गवाह जुटाते हैं।

और गवाह भी कैसे-कैसे! उनके सबसे बड़े गवाह हैं विजय देव नारायण साही और फिर हैं अज्ञेय, और बाक़ी हैं जगदीश गुप्त, रघुवंश आदि जो प्रगतिशील लेखक संघ के विचारों के बरअक्स 'परिमलवादी' हैं। लेकिन कविता के नये प्रतिमान खोजने के रास्ते में वे अपने मार्क्सवाद को आड़े नहीं आने देते। (शायद इसी 'खुलेपन' के कारण ही सत्तर के आसपास के कुछ युवा मार्क्सवादी साहित्यकारों ने नामवर को मार्क्सवाद को त्यागकर रूपवाद का सहारा लेने वाला 'संशोधनवादी' कहकर उनकी तीखी आलोचना की थी। ऐसे युवा आलोचकों में एक आलोचक इन पंक्तियों का यह लेखक भी था जिसने 1972-73 में विमल वर्मा द्वारा कलकत्ते से सम्पादित लघु पत्रिका *सामयिक* में 'अँधेरे में नामवर' लेख लिख कर 'अँधेरे में' कविता की नामवर की व्याख्या की तीखी आलोचना की थी जिसके कारण नामवर इस लेखक से बहुत दिन तक ख़फ़ा रहे।)

बहरहाल, आज के उत्तर-आधुनिक और उत्तर-संरचनावादी दौर में नामवर की यह पुस्तक यदि फिर से पठनीय लगी तो क्या आश्चर्य कि यह पहली किताब है जो 1968 के आसपास साही के हवाले से ही सही कविता के 'कंस्ट्रक्शन' यानी कविता की 'निर्मिति' की बात करती है। उत्तर-संरचनावाद के अनुसार, आज कविता ही क्यों हर शब्द एक टैक्स्ट है, हर लाइन एक 'निर्मिति' है, 'कंस्ट्रक्शन' है, 'ढाँचा' है, 'स्ट्रक्चर' है। (कविता के नामवर के खोजे काव्य प्रतिमान तक इन दिनों ख़ासे बदल गये हैं जिन पर चर्चा अभी बाक़ी है जो इस टिप्पणी से स्वतंत्र और अन्यत्र हो सकती है।)

अगले अध्याय 'मूल्यांकन की समस्या : छायावादोत्तर कविता' में नामवर बताते हैं कि नयी कविता के दौर को नगेंद्र 'अराजकता' का दौर मानते हैं दूसरी ओर वे कुँवर नारायण के 'वैचारिक औदात्य', गिरिजा कुमार और भारती के भाव/माधुर्य', अज्ञेय के बिम्ब-विधान की समृद्धि और शमशेर की 'सूक्ष्म तरल संवेदना' को 'आनंददायक' मानते हैं ... नगेंद्र आगे कहते हैं कि 'जब तक गीतकारों में शंभुनाथ सिंह, दोषी, नीरज, राही, त्यागी के आवेग-दीप्त गीत हैं तथा साही और भारतभूषण अग्रवाल की बारीक व्यंग्य वक्रताएँ 'जब तक मेरी चेतना को गुदगुदाने में समर्थ हैं तब तक मैं यह कैसे मान लूँ कि सम-सामयिक साहित्य से मेरा सम्पर्क टूट गया है।'

अब इस पर ज़रा नामवर की टिप्पणी देखिए कि 'जहाँ अज्ञेय और नीरज एक साथ जगह पा सकते हों वह हृदय निस्संदेह बहुत विशाल कहा जाएगा'। नामवर फिर नगेंद्र की इस 'विशाल हृदयता' का मज़ाक़ उड़ाते हुए उसे एक प्रकार की 'संग्रह वृत्ति' का दोषी मानते हैं क्योंकि ऐसे सर्वसंग्रहवाद के चलते कोई 'प्रतिमान' नहीं बन सकते। इसके आगे नामवर नगेंद्र के ख़िलाफ़ सीधे रामविलास को अपने पक्ष में जुटाते हैं ,यद्यपि इससे पहले नयी कविता के मूल्यांकन के संदर्भ में रामविलास और नगेंद्र एक ही कोटि के अंतर्गत यानी नयी कविता के विरोधी की तरह पेश किये गये हैं। नामवर अपने नये वकील रामविलास के लिखे को इस तरह उद्धृत करते हैं : 'नगेंद्र जी की अनुभूति सन् 36 के

बाएँ से : रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय

बहुत से युवा लेखक मान कर चला करते थे कि साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा का ही बोलबाला है। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह— यह त्रिमूर्ति हमें आश्वस्त करती कि ये ही हमारे क्रिस्टोफ़र कॉडवेल, ग्योर्ग लूकाच और रेमंड विलियम्स हैं। हम ज्यों-ज्यों अक्लमंद हुए त्यों-त्यों लगने लगा कि इनमें नामवर ही काम के हैं, बाक़ी तो 'कुत्सित समाजशास्त्री' या 'यांत्रिक मार्क्सवादी' हैं जो साहित्य की जटिलताओं में नहीं जाते। वे अपनी 'पसंदीदा' और 'प्रिफ़र्ड' रचना को ही रचना मानते हैं और बाक़ी को ख़ारिज करते हैं।

छायावादी की है उनके विचार सन् 26 के अधकचरे फ्रॉयड-भक्तों के'। आगे नामवर नगेंद्र को छायावादी तक नहीं मानते बल्कि 'पतनशील छायावादी' कह कर तसल्ली पाते हैं। लेकिन इसी प्रसंग में नामवर अपनी उक्त 'अत्युक्ति' से कुछ डरते भी नज़र आते हैं। नगेंद्र को जम कर ठोकने के बाद अपनी रस-विरोधी 'अत्युक्ति' को कुछ संतुलित करने की कोशिश करते नज़र आते हैं कि 'बहस रस से नहीं, रस की नगेंद्री परिभाषा से है'। आगे वे फिर सँभालते हैं कि इसका मतलब यह नहीं कि नयी कविता से बाहर का सारा काव्य मूल्यहीन है।

यहाँ से आगे नयी कविता भी नामवर के लिए बदल जाती है, क्योंकि मुक्तिबोध का *चाँद का मुह टेढ़ा है* का प्रकाशन हो चुका है। मुक्तिबोध की कविता का यह पुनराविष्कार नयी कविता को एक 'भिन्न परिप्रेक्ष्य' में रख देता है जिससे 'नयी कविता के अंतर्गत अरसे से चमकने वाले अनेक तारों की द्युति मंद होती दीखती है'।

यहीं नामवर के 'नये प्रतिमान' का एक सिरा खुलता है। छायावाद के 'मूल्यवान काव्य' के बारे में वे कहते हैं कि कविता की असली चीज़ है उसकी 'रागात्मक समृद्धि'। 'यह रागात्मक समृद्धि वहाँ है जहाँ वास्तविक स्थितियों के बीच से गुज़रते हुए मानव मन की अधिक से अधिक जीवंतता मूर्तिमान हुई है और जहाँ आज की वास्तविकता देखने के लिए कोई 'विज़न' मिलता है। इस प्रकार रागात्मक व्यापकता पंत के 'लोकायत' में नहीं मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' में है। (कहाँ पंत की 'लोकायत' और कहाँ मुक्तिबोध की 'अँधेरे में'! इस खींच-खाँच में 'अँधेरे में' छायावादी कवि के तुल्य हो गयी!)

बहरहाल, हम नामवर के उक्त सूत्र को टटोलें। इस सूत्र में तीन शर्तें हैं। पहली है : 'वास्तविक स्थितियाँ', दूसरी है 'इन स्थितियों से गुज़रते हुए 'मानव मन की जीवंतता का मूर्तिमान होना', और अंतिम है इस प्रक्रिया में प्राप्त होने वाला 'वास्तविकता को देखने का विज़न'।

यानी 'वास्तविक स्थितियों की ऐसी जीवंत मूर्तिमानता जिससे वास्तविकता को देखने का विज़न' मिलता हो यानी कि असली नया प्रतिमान है 'वास्तविकता से वास्तविक विज़न देने का काम करने वाली कविता!' कहने की ज़रूरत नहीं कि यह व्याख्या नव्य समीक्षा वाली व्याख्या नहीं है जो कविता के 'अवधानतापूर्वक पाठ' पर बल देती है बल्कि एक 'विचारधारात्मक व्याख्या' है जो नव्य समीक्षा के विपरीत जाती है।

नामवर के इस 'झोल' को यहीं छोड़ें और हम अगले अध्याय 'मूल्यों का टकराव : *उर्वशी* विवाद' को देखें जहाँ एक बार फिर नामवर कहते हैं कि दिनकर की रचना *उर्वशी* के मूल्यांकन के विवाद से एक बार फिर सिद्ध हुआ कि कविता के मूल्यांकन के तरीक़े अब तक सब्जेक्टिव ही रहे हैं और जिसे जैसा भाया वैसा ही नतीजा निकाल दिया, जब कि कविता के कुछ वस्तुनिष्ठ मानक होने चाहिए। इसीलिए नामवर कहते हैं कि 'किसी कृति की साहित्यिकता का निर्णय करने के लिए कोई न कोई सर्वसम्मत प्रतिमान होना ही चाहिए'। यह प्रतिमान मिलता है *उर्वशी* की मुक्तिबोध कृत आलोचना में : 'मुक्तिबोध ने उर्वशी की जो आलोचना की है उसके पीछे नयी कविता का आत्मसजग भावबोध है' और मुक्तिबोध की दिशा ही 'ठीक' है।

मुक्तिबोध का कहना है कि *उर्वशी* का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित एक काव्य है' ... वे (दिनकर) काव्यात्मक मनोरति और संवदेनाओं में डूबना-उतराना चाहते हैं। साथ ही इस गतिविधि को सांस्कृतिक आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्रदान कर उस श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं, अतएव उन्हें काव्यात्मक स्थिति से बाहर जा कर भी सोचना पड़ता है। इसलिए भाषा में बोझिल गुण हैं। यानी 'वागाडम्बरता' है। (यह दिनकर का दुर्भाग्य था कि नयी कविता के युग में महाकाव्य लिखने की ठान बैठे और उसमें भी 'काम' को केंद्रीय काव्य-विषय बना बैठे।)

जिस दौर में हिंदी में 'लिबिडो' को व्यक्त करने वाली यशपाल की कुछ कथाओं को मार्क्सवादी ब्रह्मचारी 'साड़ी जंपर उतार' छाप 'अश्लील' का फ़तवा देने के आदी हों उस दौर में *उर्वशी* में 'काम भाव' की चर्चा किस काम की? संघर्ष के दौर में 'कामभाव' किस काम का? इसलिए *उर्वशी* में चित्रित कामभाव बेभाव निपटा दिया जाता है! सारे ब्रह्मचारी जब एकत्र हों जाएँ तो *उर्वशी* क्या करेगी? और तब तक हिंदी में स्त्रीत्ववादी नज़रिये की आमद नहीं हुई थी और उर्वशी को स्त्रीत्ववादी नज़र से देखा नहीं गया था। अगर आज देखें तो मुक्तिबोध की *उर्वशी* संबंधी आपत्ति यशपाल को लेकर रामविलासीय आपत्ति के बराबर बैठेगी!

उर्वशी-विवाद (मूल्यांकन की समस्या से नहीं उपजा, बल्कि ब्रह्मचारियों के ब्रह्मचर्यवादी मानकों से उपजा विवाद है। दिनकर का दूसरा अपराध यह है कि वे *कामायनी* के बावजूद महाकाव्य लिखने बैठ गये। तीसरे वे नयी कविता के 'ग़ैर-महाकाव्यात्मक' दौर में एक महाकाव्य लिखने की हिमाक़त करने लगे। नयी कविता के एलिटिस्ट बौद्धिक मिज़ाज को जमाने के लिए *उर्वशी* को तो लुढ़काना ही होगा। जिसे पहले ही *कल्पना* ने लुढ़का दिया उसे नामवरजी ने सिर्फ़ फिर से याद दिला दिया, लेकिन समीक्षा की वस्तुनिष्ठता का सवाल तो ज्यों का त्यों रह ही गया!)

इसके आगे आता है 'पुनर्मूल्यांकन का एक उदाहरण : *कामायनी*' का अध्याय जिसमें नामवर, रामस्वरूप चतुर्वेदी के उद्धरण के माध्यम से कहते हैं कि 'पुनर्मूल्यांकन की बात साहित्य में तब आती है जब किसी रचना, किसी कवि अथवा युग विशेष को देखन-परखने की दृष्टि में जब गुणात्मक अंतर आ जाए!' 'नयी कविता' के संदर्भ 'तनाव' शब्द का प्रयोग नामवर पहले-पहल यहीं करते हैं। लेकिन, *कामायनी* के पुनर्मूल्यांकन के बारे में नामवर अपना कोई अपना मत नहीं देते। वे अधिक से अधिक साही के *कामायनी* में खोजे 'स्वीप ऑफ़ इमेजिनेशन' को उद्धृत करते हैं फिर *कामायनी* में साही द्वारा खोजी 'असंगति' के बारे में बताते हुए कहते हैं कि 'वर्णन की भाषा' और 'बिम्ब की भाषा' में असंगति वस्तुत: 'स्ट्रक्चर' और 'टेक्स्चर' का तनाव है इसलिए आवश्यकता उस असंगति को तनाव

में रूप में देखने की है। इस वाक्य के ठीक आगे नामवर यह सूत्र देते हैं : इससे काव्य के रूपात्मक विश्लेषण के लिए निश्चित रूप से एक स्पष्ट दिशा मिल सकती है और इस प्रकार नये भावबोध के अनुरूप कविता के मूल्यांकन के लिए नयी समीक्षा पद्धति की स्थापना भी हो सकती है— ऐसी समीक्षा पद्धति जो गुणात्मक परिर्वतन की सूचक हो। इतना संकेत देकर यह अध्याय कुछ जल्दबाज़ी में ख़त्म कर दिया जाता है। न यहाँ मुक्तिबोध की *कामायनी* संबंधी लम्बी समीक्षा पर बात की जाती है, न मनु के 'प्रतीकत्व' की समीक्षा की जाती है, बल्कि वे मुक्तिबोध की इस मार्क्सवादी टिप्पणी पर फ़िदा हो जाते हैं कि प्रसाद 'श्रमिकवर्ग की बलबुद्धि और आत्मविश्वासमयी क्रांतिकारी प्रवृत्ति को वे न देख सके।'

हाय! क्या ग़ज़ब का मार्क्सवाद है कि प्रसाद से अपेक्षा की जा रही है कि *कामायनी* लिखते वक़्त यानी 1936–37 के दौरान वे 'वर्ग संघर्ष में श्रमिक वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका' को क्यों नहीं समझ सके? अगर वे मार्क्सवादी हो जाते तो *कामायनी* भाववादी दोष से मुक्त होकर क्रांतिकारी कृति हो जाती? ज़रा हम पूछें तो कि 1937 तक कम्युनिस्ट पार्टी किस हाल में थी? उसका प्रभाव–क्षेत्र कितना था और वे किस प्रकार के मार्क्सवाद या स्टालिनवाद से प्रभावित थी? यह कौन–सी मार्क्सवादी आलोचना हुई जो हर लेखक से मार्क्सवादी होने की उम्मीद करके चलती है?

इसी तर्क से हिसाब से क्या हम मुक्तिबोध से उनकी कविता में न आ सके कम्युनिस्ट पार्टी के आसन्न विभाजन के चिह्नों को लेकर जवाब–तलब करें और उन चिह्नों को न पा कर कहें कि मुक्तिबोध भी श्रमिक वर्ग की विचारधरा के अंदरूनी संकट को नहीं देख सके कि पार्टी 1964 में विभक्त हो गयी? और क्या हम मुक्तिबोध से पूछें कि वे 1962 के चीनी हमले को 'अँधेरे में' क्यों जगह न दे सके? हम किसी भी कवि से अपने वक़्त के हिसाब से 'सर्वज्ञ' होने की उम्मीद कर उसकी समीक्षा नहीं कर सकते। हम 1937 में 1964 की ज़रूरतों को पूरा करने की उम्मीद नहीं कर सकते। लेकिन मुक्तिबोध प्रसाद से करते हैं और नामवर इस दोष के लिए मुक्तिबोध को टोकते तक नहीं। इसी तर्क और तर्ज़ से, हम नामवर से क्यों नहीं कह सकते कि वे अपनी समीक्षा में सिर्फ़ नव्य समीक्षा तक ही सीमित क्यों रहे? उसका अतिक्रमण कर जब पश्चिमी समीक्षा संरचनावाद से ले कर उत्तर–सरंचनावाद तक आ गयी तो वे उसको लेकर सजग क्यों न हुए? या कि मार्क्सवाद के नये संस्करणों के प्रति वे सजग क्यों नहीं दिखते?

हम कह दें कि हम अगर किसी कवि से वह माँग करते हैं जो उसके टेक्स्ट में दर्ज नहीं है, तो हम उसके टेक्स्ट पर निजी आग्रहों को लादते हैं। मुक्तिबोध प्रसाद पर ऐसा ही अतिचार कर रहे हैं और नामवर उसे सादर उद्धृत कर रहे हैं!

कविता के नये प्रतिमान की सबसे बड़ी सीमा यही है कि नामवर अकसर अपनी अवधारणाओं को विकसित करने की अपेक्षा दूसरों के कहे को अपना बना कर कहने के आदी हैं। वे स्वयं कुश्ती कम लड़ते हैं, दूसरों से अधिक लड़ाते हैं और इस चक्कर में दूसरों की समझ और भाषा की सीमा उनकी भी समझ और भाषा की सीमा बन जाती है।

इसीलिए इस पुस्तक की योजना में कई जगह झोल आ गये हैं। उदाहरण के लिए यदि अगला अध्याय 'तार सप्तक : इतिहास की आवृत्ति' इस पुस्तक का पहला अध्याय होता तो बेहतर होता, क्योंकि यह नामवर का सर्वाधिक 'मीटी' या कहें दमदार अध्याय है। *तार सप्तक* ही नयी कविता की शुरुआत करने वाला है और यहीं हम उनमें कुछ एडवर्ड सईद वाले 'बौद्धिक' के लक्षण देखते हैं। यहीं वे अपने प्रतिमानों को खुल कर अपेक्षाकृत प्रकट करते हैं।

विश्व भारती क्वार्टरली में 1938 में अंग्रेज़ी में छपे लेख को उद्धृत करते हुए नामवर अज्ञेय से कहलवाते हैं कि 'यह युग संशय, अस्वीकार और कुंठा का है'। नामवर को ऐतराज है कि अज्ञेय को इस दौर में (1938 के आसपास) कविता में आ रहा 'यथार्थवादी रुझान' नहीं दिखता जब कि प्रसादजी

नये साहित्य में 'यथार्थवाद की बढ़ती प्रवृत्ति' देख चुके थे। यथार्थ का अर्थ प्रसाद के लिए था 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात, व्यक्तिगत जीवन के दुखों और अभावों का वास्तविक उल्लेख'।

नामवर के अनुसार 1938 का वर्ष नयी कविता के लिए बड़ा डिफ़ाइनिंग वर्ष रहा। 1938 के आसपास हिंदी के बौद्धिक लेखकों और कवियों का एक ऐसा वर्ग आया जो पश्चिम के 'इंतेलीगेंत्सिया' से भले ही कुछ नीचे हो परम्परागत साहित्य-संस्कारी 'लितराती' से निश्चय ही भिन्न था। इसलिए इनके संशय, दुविधा, अश्रद्धा आदि परम्परागत साहित्य-संस्कारी हिंदी कवि से नितांत भिन्न थे।

नामवर आगे इसे और साफ़ करते हुए कहते हैं कि यह बौद्धिक वर्ग अपनी चिंतन-प्रक्रिया में अपने को नेहरू के सबसे अधिक निकट पाता था। नेहरू की *मेरी कहानी* का अंतिम अध्याय इस युग के मिज़ाज के साथ इस युग के कवियों की मन:स्थिति को समझने में विशेष रूप से सहायक है। अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर फासिज़म का उदय, म्युनिख समझौता, स्पेन में जनतंत्र की रक्षा के लिए देश-विदेश के लेखकों और बुद्धिजीवियों का मोर्चे पर लड़ना, द्वितीय महायुद्ध की विनाशकारी छाया, राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण और पतन, त्रिपुरी कांग्रेस और राष्ट्रीय अंतर्द्वंद्व, राष्ट्रीय आंदोलन में शिथिलता तथा नये उभरने वाले वामपंथी दलों का बढ़ता असंतोष— इन तमाम घटनाओं के बीच व्यक्तिगत जीवन के अभावों की ज़मीन पर जिस अशांति, घुटन, कुंठा, कशमकश, निरुपायता, आदि का अनुभव नेहरू कर रहे थे। वही गूँज इस दौर के बुद्धिवादी कवियों में भी सुनी जा सकती थी।

यहीं साही एक बार फिर नामवर की आँखें यह कर कर खोलते हैं कि 'छायावाद और नयी कविता के बीच जो दुर्लंघ्य खाई दिखती थी वो वस्तुत: है नहीं'।

नयी कविता के केंद्र में नेहरू और नामवर

1938 का वर्ष नामवर की नज़र में बड़ा क्रिटिकल वर्ष है। यह वही वर्ष है जब नेहरू और नयी कविता एक-दूसरे से जुड़े नज़र आते हैं। जोड़ने वाला तत्त्व है 'रिक्तता' और 'संकट'। इसी दौरान छायावादी 'नैतिक विज़न' टूटने पर हृदय और बुद्धि के अलगाव के रूप में मन का विभाजन हो जाता है।

नेहरू और नयी कविता के इस संबंध को खोजने वाले भी साही ही हैं, लेकिन बल देने वाले नामवर हैं।

उत्तर-छायावादी कवियों की 'भावोच्छ्वासिता' के बरअक्स नयी कविता के कवि 'बौद्धिकता' का मार्ग अपनाते हैं। इसी कारण वे 'राहों के अन्वेषी' (*तार सप्तक* के कवियों की मुख्य टेक) बनते हैं। छायावादी रोमांटिकता के बरअक्स नामवर इलियट के बहाने 'निर्वैयक्तिक काव्य सिद्धांत' पेश करते हैं। *तार सप्तक* में राहों के अन्वेषण पर बल था, तो *दूसरा सप्तक* में 'आत्मान्वेषण' पर बल आ जाता है। नये कवि की समस्या है 'सत्य की खोज'। सत्य दो तरह का है : पहला है: 'वस्तु सत्य' दूसरा है : 'व्यक्ति सत्य'। यहीं नामवर पहली बार अज्ञेय की तीखी आलोचना करते हुए कहते हैं कि 'अज्ञेय द्वारा ... बड़े कौशल से तार सप्तक की परम्परा को आत्मनिष्ठ मोड़ दे दिया'... 'वस्तु सत्य' नि:शेष हो गया। तथ्य में और तथ्य भी अपनी रागात्मकता के अधीन होकर अपनी रही-सही वस्तुनिष्ठता खो बैठा'।

नामवर कहते हैं कि आज़ादी मिलने के बाद काव्य का ऐतिहासिक संदर्भ बदल चुका था। आज़ादी के तीन-चार वर्ष भारी उथल-पुथल के थे। इतिहास में भाग लेने वाली सारी शक्तियाँ भावी इतिहास में अपना-अपना स्थान निर्धारित करने के लिए प्रयत्नशील थीं। परिवर्तन की प्रकृति को ठीक-ठीक पहचानना और पहचान कर उसके साथ अपनी संगति बैठाना आसान न था। लेकिन 1951 के बाद संविधान बनने और चुनाव होने के बाद वह दौर शुरू हुआ जिसे सुविधा के लिए हम 'नेहरू युग' कह सकते हैं। 1938 और सन् 1951 में अंतराल के बावजूद नामवर को साम्य नज़र आता है, क्योंकि

दोनों समयों में नेहरू ही केंद्र में हैं। 'यदि 1938 की बौद्धिक कशमकश नेहरू से सम्बद्ध थी तो 1951 का 'आत्मान्वेषण' भी नेहरू की नयी स्थिति से असम्बद्ध नहीं था। नामवर एक बार फिर नेहरू और नयी कविता के 'रिश्ते' पर ज़ोर देते हुए कहते हैं कि यह तथ्य है कि नेहरू 1938 के बुद्धिजीवियों के नायक थे और उनका चिंतन कहीं न कहीं नेहरू के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था। इसलिए 1951 में नये भारत के नये नेता के रूप में नेहरू को प्रतिष्ठित देख कर यदि *तार सप्तक* युग के कवियों में पूर्ववर्ती तनाव के स्थान पर कुछ आत्मतोष, कुछ आत्मविश्वास, कुछ आशा और कुछ उत्साह का भाव आ गया तो अप्रत्याशित नहीं था। जेल के अंदर भारत की खोज करने वाले नेहरू के सामने अब दुनिया में भारत की खोज का प्रश्न था। इसके समानांतर यदि कवि 'आत्मसत्य' और अपने व्यक्तित्व की खोज की ओर प्रवृत्त हुए तो स्वाभाविक ही कहा जाएगा। परिवेश के साथ काव्य की यह संगति सर्जनात्मक विकास के लिए वरदान सिद्ध हुई। 1951-59 के बीच में नयी कविता के रूप में सर्जनात्मक सम्भावनाओं का जो अभूतपूर्व आवेश दिखाई पड़ता है उसका श्रेय समकालीन परिवेश के साथ कवियों की इस रागात्मक संगति को देना अनुचित न होगा। इस वातावरण में जो भी विसंवादी स्वर निकला अपने आप डूब गया। सृजनशीलता का जादू ऐसा चला कि किसी भी प्रकार के 'आलोचनात्मक' स्वर के लिए गुंजाइश न रही। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन ही नहीं मुक्तिबोध की आवाज़ भी इस सृजन-क्षण में डूब गयी। स्वाधीनता की पहली लहर में ऐसा लगा जैसे नव-रोमानवाद का पुनरुत्थान हो रहा हो।

कहने की ज़रूरत नहीं कि कविता के नये प्रतिमान के ये बड़े बुनियादी राजनीतिक अंश हैं। नयी कविता में दो वर्ग बन जाते हैं : एक है नेहरू के कवि! दूसरे हैं आलोचनात्मक स्वर वाले कवि, जिनका स्वर नेहरू की उठान में डूब गया और जब नेहरू का जलवा ख़त्म हुआ तब उनको आवाज़ मिली। अगर मान लें कि नेहरू के जलवे के कारण केदार नाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन जैसे कवियों का क्रिटिकल स्वर भले डूब गया हो, मुक्तिबोध का तब कोई स्वर प्रकाशित ही नहीं हुआ था जो डूबता। और फिर मुक्तिबोध स्वयं नेहरू को बहुत मानते थे। दिल्ली के आयुर्विज्ञान संस्थान में अपनी बीमारी के दौरान भी वे कवि मित्रों से नेहरू के स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ करते थे।

मुक्तिबोध तो अपने ही साथियों की उपेक्षा के मारे रहे। जिनमें स्वयं नामवर भी कहे जा सकते हैं क्योंकि मुक्तिबोध की मृत्योपरांत महिमावान होने से पहले नामवर तो ऐसी स्थिति में थे कि मुक्तिबोध की कविताएँ प्रकाशित कर सकते थे। भाकपा के प्रकाशन तो प्रकाशित कर ही सकते थे। इसलिए नेहरू के प्रभामण्डल में केदार-नागार्जुन का स्वर भले डूबा हो मुक्तिबोध का तो कोई स्वर ही तब तक न था कि डूबता! वे *नया ख़ून* में लिखते थे लेकिन वह डुबोने के लिए काफ़ी कहाँ था?

लेकिन इससे भी बड़ा सवाल है नयी कविता और नेहरू को नामवर द्वारा जोड़ देने का प्रयत्न!

नामवर के विवरण से ऐसा लगता है कि जो मन:स्थिति नेहरू की थी वही नये कवियों की रही। क्या वाक़ई?

या कि यह सिर्फ़ सीपीआई की लाइन रही जिसके अनुसार नेहरू एक प्रगतिशील नेता थे?

जी हाँ!

इसी प्रसंग में नामवर आगे कहते हैं कि 'निस्संदेह नेहरू युग के अंतर्विरोध जल्द ही अपने असली रूप में सामने आने लगे और कुछ ही दिनों बाद यह स्पष्ट हो गया कि जिसे स्वाधीनता प्राप्ति के आरम्भिक दौर में 'सत्य' समझा जा रहा था वह वस्तुत: 'भ्रम' था किंतु यह 'भ्रम' बहुत बड़ा था और शायद ऐतिहासिक भी। अनेक वामपक्षी राजनीतिक दल बहुत दिन तक इस भ्रम के शिकार रहे। किंतु कभी कभी 'भ्रम' भी काव्य में रचनाशीलता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। और कहना न होगा कि इस ऐतिहासिक 'भ्रम' ने नयी कविता के अनेक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कृतियों की सृष्टि की। किंतु इस युग का श्रेष्ठ एवं सार्थक कृतित्व वह है जो इस भ्रम से कम से कम ग्रस्त था अथवा एकदम मुक्त था।

यह लम्बा उद्धरण नामवर के अपने अंतविर्रोधों को प्रकट करता है। एक ओर वे नयी कविता को नेहरू के खूँटे से बाँधते हैं फिर उसे उस खूँटे से मुक्त करते हैं। पहले वे नेहरू के रिक्तताबोध को कविता के रिक्तताबोध से जोड़ते हैं फिर नेहरू की 'भारत की खोज' को नयी कविता के 'राहों के अन्वेषण' से जोड़ते हैं। पहले वे 'स्वाधीनता' को 'सत्य' मानते हैं, फिर उसे 'भ्रम' कहने लगते हैं क्योंकि तब भाकपा के एक धड़े की लाइन थी कि 'यह आज़ादी झूठी है', 'यह आज़ादी एक समझौता है'। कहने की ज़रूरत नहीं कि बाद में भाकपा का यह धड़ा सीपीआई (एम) या माकपा के नाम से जाना गया।

लेकिन उक्त प्रसंग में नामवर भाकपा की जोशी–डांगे की लाइन को सिद्धांतिकी की रूप देते–देते रह गये।

नेहरू की चित्तवृत्ति से नयी कविता की चित्तवृत्ति को जोड़ने का ऐतिहासिक कारण क्या है?

नामवर ने सिर्फ़ एक कारण दिया है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अज्ञेय पहले अपनी अंग्रेज़ी कविताओं की भूमिका ही नेहरू से नहीं लिखवाई, बल्कि 1951 में नेहरू की साठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर नेहरू अभिनंदन ग्रंथ का सम्पादन भी किया।

इन दो घटनाओं के कारण नेहरू और नयी कविता की 'चित्तवृत्ति' एक हो जाती है! इधर नेता को ख़ालीपन महसूस हुआ, उधर कवियों को ख़ालीपन महसूस हुआ! कवि न हुए नेहरू के उपांग हो गये! नयी कविता स्वतंत्र कविता न हुई, अज्ञेय का एक्सटेंशन हो गयी और बाद नयी कविता बिना किसी चूँ–चपड़ किये अज्ञेय के नेहरू के खूँटे से बँधने के कारण स्वयं भी बँध गयी! क्या *तार सप्तक* अज्ञेय के गुलामों का संग्रह था या कि नयी कविता अज्ञेय का हुकुम बजाने वाली थी कि ज्यों ही अज्ञेय ने नेहरू की कोर्निश बजाई कि उनकी नक़ल में नयी कविता भी नेहरू के आगे साष्टांग हो गयी?

जबकि ये कवि के एक–दूसरे से बहुत भिन्न थे। *तार सप्तक* की भूमिका में इस भिन्नता कि बारे में स्वयं अज्ञेय ने कुछ इस तरह कहा है कि ये सात कवि न केवल एक–दूसरे से भिन्न नज़रिया रखते हैं बल्कि इनके कुत्तों तक में मतभेद हैं।

नामवर की सबसे बड़ी समस्या यह है कि एक ओर वे कविता के नये वस्तुनिष्ठ प्रतिमान खोजना चाहते हैं, दूसरी ओर वे अपने विचारधारात्मक आग्रह को भी बनाए रखना चाहते हैं, जबकि दोनों दो नावों की तरह है और दो नावों में पाँव रख कर आप एकमुश्त प्रतिमान नहीं खोज सकते हैं। आपके प्रतिमान भी विभक्त होंगे और ऐसा ही हुआ है। वे अमेरिकी न्यू क्रिटिसिज़म और मार्क्सवाद में संतुलन बिठाने के चक्कर में वैचारिक विभक्ति के शिकार हुए हैं।

ज़रा देखें : एक ओर नया कवि एकदम 'आत्म सजग', 'आत्मान्वेषक' और अपने लिए नयी–नयी राहों का अन्वेषक है। सत्य का अन्वेषक है। उधर वह अज्ञेय जहाँ बाँध देते हैं वह बँध जाता है। अज्ञेय नेहरू का अभिनंदन करते हैं तो मानो समूची नयी कविता ही नेहरू का अभिनंदन करने लगती है। और यह सिर्फ़ एक दिन की बात नहीं है, बल्कि 1938 से 1959 यानी पूरे बीस–इक्कीस साल लम्बी बात है। नयी कविता नेहरू के खूँटे से पूरे बीस–इक्कीस साल बँधी रहती है।

एक ओर नयी कविता को छायावादी और छायावादोत्तर भावुकतावादी कविता के संस्कारों से जूझ कर बनते बताया जाता है, दूसरी और उसे नेहरू का पर्याय और विस्तार मान लिया जाता है। इतिहास की जटिल परिस्थितियों के बीच एक नयी सांस्कृतिक प्रक्रिया यानी नयी कविता क्या किसी एक खूँटे से बँध सकती थी या बाँधी जा सकती है?

कहने की ज़रूरत नहीं कि नेहरू को लेकर नामवर का यह अनुराग भाकपा की कांग्रेस–समर्थक लाइन का ही विस्तार है और इस तर्क से कहा जा सकता है कि *कविता के नये प्रतिमान* के केंद्र में मुक्तिबोध नहीं बल्कि नेहरू हैं।

बेहतर होता कि नामवर साही की लाइन पर आँख मूँद कर न चल कर 1938 के आसपास की

स्थितियों का खुल कर विश्लेषण करते। 'रिक्तता' का विश्लेषण करते, कांग्रेस के आंदोलन का विश्लेषण करते। नेहरू के समाजवादी विचारों के प्रभामण्डल में न फँस कर एक मार्क्सवादी होने के नाते उन्हें क्रिटिकली देखते तो पाते कि नयी आसन्न आज़ादी और नयी कविता के बीच समांतरता का या लेन-देन का संबंध सम्भव था। लेकिन उस सबकी जटिलता में न जाकर नयी कविता के सबसे बेहतरीन कृतित्व को नेहरू के नाम समर्पित कर देना साहित्य में डांगेवादी लाइन लेना है ,जबकि इस बीच तेलंगाना में किसानों का सशस्त्र संघर्ष नेहरू की सेनाओं द्वारा कुचला जा चुका है। 1962 में चीन का हमला हो चुका है। नेहरू का जादू उतर चुका है। उसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी दो-फाड़ हो चुकी है। माकपा आ चुकी है, जो कांग्रेस को भाकपा की तरह प्रगतिशील नहीं मानती और नेहरू के समाजवाद को मिक्स्ड इकॉनॉमी का समाजवाद मानती है और सिर्फ़ माकपा ही क्यों, 1967 में नक्सलबाड़ी हो चुका है और कई राज्यों में ग़ैर-कांग्रेसी सरकारें आ चुकी हैं। लोहिया का ग़ैर-कांग्रेसवाद अमल में आने लगा है।

सच तो यह है कि नेहरू की छतरी तान कर नामवर नयी कविता के दौर के कई कठिन सवालों से मुक्त हो जाते हैं।

शीत युद्ध की राजनीति और नयी कविता

इन्हीं में से एक सवाल शीत-युद्धीन राजनीति का भी है जिसकी छाया नयी कविता पर यत्र-तत्र पड़ती नज़र आती है जिसे नामवर सिर्फ़ दो पैरों में निपटा देते हैं। कोई कह सकता है कि *कविता के नये प्रतिमान* 1968 में प्रकाशित हुई है और मूल मूल रहे, इस ख़ातिर उसमें बहुत -सी बाद की बातें नहीं दी गयी हैं।

लेकिन शीत-युद्ध तो 1968 की बात नहीं थी— वह तो 1944-45 से ही दुनिया में अपना असर दिखाने लगा था। अमेरिका और सीआईए ने दुनिया भर से कम्युनिस्टों के विचार के प्रभाव को ख़त्म करने के लिए कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम की स्थापना की थी। यह संगठन भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों-पत्रकारों को अपने प्रभाव में लाने के लिए प्रयत्नशील रहता था। कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम के भारतीय चेप्टर के चीफ़ मराठी के साहित्यकार प्रभाकर पाध्ये थे जिनकी प्रेरणा से इलाहाबाद में (शायद) 1957 में एक बड़ा लेखक सम्मेलन हुआ था जिसमें बहुत से नये कवि और आलोचक शामिल हुए थे। इसमें साहित्यकारों को राजसत्ता से दूर रहने, उसका सम्मान आदि न लेने और अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने पर ज़ोर दिया गया था। (यह प्रसंग अलग से छानबीन माँगता है।)

प्रसंगवश कह दें कि कम्युनिस्टों के फैलते प्रभाव को रोकने-पलटने के लिए कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम और सीआईए के कारनामों को 1968 के आसपास एक अमेरिकी पत्रकार ने एक अमेरिकी अख़बार द *नेशन* में उजागर किया। इस क्रम में कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम के द्वारा चुपके से फाइनेंस की जाती अंग्रेज़ी साहित्य की नामी पत्रिका *एनकाउंटर* का नाम उजागर हुआ। नतीजतन सम्पादक स्टीफ़न स्पेंडर तथा अन्य नामी हस्तियों को इस्तीफ़ा देना पड़ा।

शीत-युद्ध, दुनिया के दिमाग़ों को जीतने की एक विचारधारात्मक लड़ाई थी जिसके एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवादी देश थे दूसरी ओर सोवियत संघ और दुनिया भर में फैली कम्युनिस्ट पार्टियाँ थीं। कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों के बीच सोवियत तानाशाही के विकल्प में 'व्यक्ति की आज़ादी' की हिमायत करती थी। नये-नये आज़ाद हुए भारत के नये विकासमान मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों और रचनाकारों को 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' का आइडिया एक आकर्षक मूल्य की तरह महसूस हुआ। अमेरिकी आज़ादी का आइडिया आज़ादी के देशज आइडिया के साथ 'लिप-सिंक' करता नज़र आया। बुर्ज़्वा वर्ग का मिज़ाज मार्क्स ने इसी मानी में 'अंतर्राष्ट्रीय' बताया था।

ऐसा नहीं कि नामवर शीत-युद्ध के बारे में न जानते हों। वे ख़ूब जानते थे। इस मामले में वे मुक्तिबोध को यों उद्धृत करते हैं कि 'स्वाधीनता प्राप्ति के उपरांत एक ओर भारत में अवसरवाद की बाढ़ आयी। शिक्षित मध्यवर्ग में भी इसकी ज़ोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद और स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में पुराने प्रगतिवाद पर ज़ोरदार हमले किये गये और कुछ सिद्धांतों की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धांत और हमले वस्तुतः उस *शीत-युद्ध* (बलाघात मुक्तिबोध का) के अंग थे जिसकी प्रेरणा लंदन और वाशिंगटन से ली गयी थी ... नयी कविता के आसपास लिपटे बहुत से साहित्यिक सिद्धांतों में शीतयुद्ध की छाप है'। (*नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध* से उद्धृत)

इसके आगे नामवर कहते हैं कि 1951 से 1969 तक तथा सम्भवतः उसके बाद भी नयी कविता की विकास की रेखा में जो कुछ वक्रता दिखाई पड़ती है उसका एक कारण तो शिक्षित मध्यवर्ग का 'अवसरवाद' है और दूसरा कारण साम्यवाद विरोधी शीत-युद्ध की पाश्चात्य विचारधारा का दूषित सांस्कृतिक प्रभाव है।

साफ़ है नामवर शीत-युद्ध के वातावरण से अच्छी तरह अवगत हैं, लेकिन इसका असर जिस 'वक्रता' में देखते हैं उसे नहीं खोलते और इस वक्रता को भी अवसरवाद और प्रगतिविरोधी विचारों के मत्थे मढ़ देते हैं, मानो प्रगतिशीलता का अवसरवाद से कोई रिश्ता न हो। खेद की बात है कि नामवर शीत-युद्ध से वैचारिक स्तर पर भिड़ने की जगह नयी कविता के वक्र-विचलन को अवसरवाद के मत्थे मढ़ देते हैं जब कि यह निंद्य 'अवसरवाद' भारत के नये पूँजीवादी समाज में अपना अवसर खोजने वाले पढ़े-लिखे निम्न-मध्यवर्ग के लिए जीने की एक तरक़ीब भी हो सकती है। मुक्तिबोध इस अवसरवाद और 'अवसरवाद' में फ़र्क़ करते हैं, नामवर नहीं करते।

यही नहीं 'अपने व्यक्तित्व की खोज' अपने 'आत्म या सेल्फ़ की खोज' और 'नयी राह का अन्वेषण' आदि नये बन रहे भारतीय शहरी बुर्ज़्वा समाज में रहने वाले व्यक्तियों की सहज आकांक्षाएँ हैं। अगर कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम वालों ने इस व्यक्तिवाद को तीखा करने के लिए टारगेट बनाया तो इसलिए कि उसका निरा व्यक्तिवाद विकासशील व्यक्तिवाद के साथ पूरी तरह 'सिंक' कर सकता था। इसके बरअक्स प्रगतिशील विचार पार्टी के आगे 'व्यक्ति के व्यक्तित्व' का 'सरेंडर' चाहते थे।

इतिहास के उस दौर में मध्यवर्ग में 'व्यक्तिगत आकांक्षाएँ' एक स्वाभाविक बात थी जिसे प्रगतिवादी विचार सही नहीं समझता था। लोग समाज के विकास के साथ अपने व्यक्तित्व का विकास भी चाहते थे। लोग अगर सामूहिकतावादी कम्युनिस्ट विचारों से उपराम होकर, कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम के 'व्यक्तिगत आज़ादी' के नारे की ओर अनजाने ही लुढ़क गये तो उसका कारण पूँजीवाद के विकास के चरण में हो सकने वाली व्यक्ति के विकास की अवधारणा ही थी जिसके लिए 'कांग्रेस' को बहुत कुछ न करना पड़ा, बल्कि भारतीय बुर्ज़्वा वर्ग ने अपने विकास के लिए अपने आप ही कर दिया।

नामवर शीत-युद्ध की वैचारिक जटिलता में इसलिए गहरे नहीं पैठते क्योंकि वे स्वयं इस शीतयुद्ध के एक सिरे, प्रगतिशील सिरे के एक खिलाड़ी हैं। अगर गहरे पैठते, तो उनको अपने आप से भी कुछ कठिन सवाल करने पड़ते।

नामवर और कुछ नये प्रतिमान

कविता के नये प्रतिमानों को अगर एकमुश्त देखना हो तो पुस्तक का खण्ड 'दो' अनिवार्यतः पठनीय है जिसमें नामवर कुछ नये और महत्त्वपूर्ण 'प्रतिमान' स्थापित करते हैं। यहाँ सबसे पहले वे 'कविता की भाषा' और उसके 'कथ्य' की अभिन्नता को स्वीकार करके कविता की 'सापेक्ष स्वतंत्रता' पर बल देते हैं।

यानी कि, कविता एकदम स्वतंत्र नहीं होती बल्कि 'सापेक्ष' भाव के साथ स्वतंत्र' होती है। यही नहीं, कविता की भाषा और उसका अर्थ पृथक्-पृथक् नहीं होते। किसी कविता की भाषा को सुंदर कहने के बाद उस कविता को असुंदर कैसे कहा जा सकता है? यानी भाषा और अर्थ और कथ्य एक दूसरे से अभिन्न भाव से जुड़े होते हैं। नयी कविता न केवल सत्य जानने का साधन है बल्कि उसे सम्प्रेषित करने का तरीक़ा है। नामवर भाषा वैज्ञानिक सपीर के हवाले से कहते हैं कि भाषा एक स्वत: सर्जनात्मक सम्पूर्ण प्रतीक प्रणाली है। यहीं नामवर कहते हैं कि नये कवि पश्चिमी साहित्य-ज्ञान से अवगत हैं और अगर ज्ञान की कुछ नयी चिंगारी हिंदी में आ रही है तो कोई 'ज़्यादा ग़ज़ब नहीं हुआ'!

नामवर आगे कहते हैं कि कविता का विश्लेषण करना है तो पहले कविता की भाषा का विश्लेषण करें। तभी कविता की भाषा की 'सृजनशीलता' पकड़ में आएगी। यहीं नामवर सृजनशीलता को समझाते हुए कहते हैं कि किसी नये शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नये अनुभव-खण्ड अथवा वास्तविकता के किसी नये पहलू की खोज', 'नया शब्द' यानी 'नया अर्थ' जो नये अनुभव को बताने वाला हो।

कहने की ज़रूरत नहीं कि समूची नयी कविता में सबसे बड़ी समस्या नये अनुभव को सही भाषा में अभिव्यक्त करने की ही है। सही भाषा या सही शब्द की खोज ही कविता में 'छटपटाहट' पैदा करती है।

नयी कविता का एक बड़ा झगड़ा 'सही भाषा की खोज' का है। नामवर फिर साही को अपना वकील बना कर कहलवाते हैं कि 'आज के विशाल जीवन सागर के उतार चढ़ाव को, उसके प्रामाणिक अस्तित्व को बातचीत की लय के साथ पकड़ा जा सकता है। उस लय की तलाश ही अभिव्यक्ति की तलाश है। यही है 'आज के जीवन की धड़कन को व्यक्त करने वाली लय को गहरे स्तर पर पकड़ना है'।

तब आलोचक का काम क्या है?

नामवर साफ़ करते हैं कि आलोचक 'तादात्म्य रूप में प्रस्तुत कथ्य कथन के बीच (आलोचक) सेंध लगाता है और अंतर्निहित तनाव की तलाश करता है आलोचक की यह तलाश ही उसकी सृजनशीलता है'। नामवर मानते हैं कि कथ्य और कथन के बीच द्वंद्वात्मक संबंध है जिसे 'विरोधपूर्ण एकता' की संज्ञा दी जा सकती है। इसके आगे वे 'काव्य भाषा विषयक मौन' की बात करते हैं लेकिन मौन सिर्फ़ अज्ञेय की समस्या ही नहीं है वह नयी कविता की भी एक मौलिक समस्या है। जब कवि सही भाषा की तलाश करता है तो कभी-कभी मौन की भाषा ही सही भाषा होती है।

यहीं नामवर को चाहिए था कि वे नयी कविता की रचना-प्रक्रिया में बार बार उभर रही 'अभिव्यक्ति' की समस्या को विस्तार से खोलते। नयी कविता के उनके प्रिय कवि मुक्तिबोध 'अँधेरे में' में अभिव्यक्ति की समस्या से ही जूझते हैं और अपनी विफलता को स्वीकार करके चलते हैं। स्वयं नामवर ने 'अँधेरे में' को 'परम अभिव्यक्ति की खोज' माना है।

यही नहीं, अज्ञेय की अनेक कविताओं और ख़ास कर 'असाध्य वीणा' में भी अभिव्यक्ति की यही समस्या बार-बार प्रकट होती है। वीणा की असाध्यता का रूपक अपने आप में अभिव्यक्ति की असाध्यता का ही रूपक है।

लेकिन नामवर को अन्य प्रतिमानों को खोजने की जल्दी है, इसलिए वे आगे बढ़ते हैं। शायद इसीलिए वे नयी कविताओं के उदाहरणों के ज़रिये पुराने प्रतिमानों के 'बरअक्स' नये प्रतिमानों को पेश करते हैं जैसे कि : 'बिम्ब विधान' के बरअक्स 'सपाटबयानी' की स्थापना, नयी कविता में 'प्रगीतात्मकता' की जगह उसकी 'नाटकीयता' पर ज़ोर देना, नयी कविता में प्रकट होती 'विसंगति' और 'विडम्बना' पर बल देना, नयी कविता में व्यक्त होती 'अनुभूति की जटिलता' और 'तनाव' पर बल देना, 'ईमानदारी' और 'प्रामाणिक अनुभूति' को रेखांकित करना तथा ' परिवेश और मूल्यों' के

बीच के बनते जटिल संबंधों को पकड़ना और उनका बखान करना! ये नयी कविता के कुछ नये मान–मूल्य हैं जिनको नामवर अपनी खण्डन–मण्डनात्मक शैली में ही खोजते हैं और रेखांकित करते हैं। 'बिम्ब योजना कविता के लिए हानिकारक ही सिद्ध हुई है। बिम्ब के कारण कविता बोलचाल की भाषा से दूर हटी है ... विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है। और काव्य–कथ्य की ताक़त कम हुई है'। इससे पहले वे विलियम ऐंप्सन की 'सेविन टाइप्स ऑफ़ एम्बिगुइटी' के हवाले से अस्पष्ट की जगह 'स्पष्ट कविता' को उचित मानते हैं, और आगे राजकमल चौधरी की कविता 'मुक्ति प्रसंग' की कृष्ण नारायण कक्कड़ की समीक्षा के शब्दों में कहते हैं कि 'सपाट बयानी' का मतलब है, कविता में उस भाषा का प्रयोग जो कबीर–सूर की भाषा है जो अपनी बात को सीधे कहते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि सपाट बयानी के प्रतिमान को खोजने और स्थापित करने का श्रेय नामवर को ही जाता है।

इसी तरह 'नाटकीयता' के प्रतिमान के खोजी भी नामवर हैं। कविता में 'नाटकीयता' के तत्त्व को इससे पहले रेखांकित नहीं किया गया। इसके लिए वे कविता में 'अन्विति' की अनिवार्यता की बात करते हुए निराला की 'तोड़ती पत्थर' से ले कर नागार्जुन की 'पाँच पूत भारत माता के' का ज़िक्र करते हुए अज्ञेय की 'कलगी बाजरे की' को अन्विति का एक बेहतरीन उदाहरण बताते हैं। अन्विति का मतलब है 'संरचना' और 'कथ्य' की 'अन्विति'! यहीं वे नाटकीयता को प्रगीत–कविता की भावुकता से अलग करते हुए श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय की कुछ कविताओं को उद्धृत करते ही हैं, साथ ही राजकमल चौधरी, साही और मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं को प्रमाण की तरह प्रस्तुत करते हैं कि किस तरह इस दौर की आत्मपरक लम्बी कविताओं की 'अंतर्ग्रंथित' नाटकीयता जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं को व्यक्त करने में सक्षम हैं। विसंगति, विडम्बना, अनुभूति की जटिलता को व्यक्त करने के कारण ही कविता में नाटकीयता का तत्त्व आता है। नामवर कहते हैं कि 'आज की विडम्बनापूर्ण स्थिति के सम्मुख नाटकीय काव्य के लिए अपार सम्भावनाएँ हैं और नाटकीय रचनाएँ ही इस स्थिति की चुनौती को अच्छी तरह स्वीकार कर सकती हैं'।

नामवर का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अध्याय है 'अनुभूति की जटिलता और तनाव'। साही के हवाले से नामवर बताते हैं कि छायावादी काव्य में भी द्वंद्व था लेकिन वह द्वंद्व चरम तक नहीं पहुँचता था। बीच में ही सामंजस्य हो जाता था। यही 'संतुलन का नाटक' था लेकिन 1936 के बाद 'इरविन पेक्ट' के बाद नेहरू ने 'अचानक रिक्तता का अनुभव किया। अर्थात् नेहरू की आस्था गाँधी में थी लेकिन इरविन पेक्ट ने उसमें दरार डाल दी यानी भरोसा टूट गया। नामवर इस दरार की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'कविता के क्षेत्र में मन के इस विभाजन का अर्थ था छायावादयुगीन तन्मय एकाग्रता का खण्डन और बाहर तथा भीतर गहरे व्यवधान का बोध। 'तनाव' इसी का 'बाइ प्रोडक्ट' है। इसी क्रम में नामवर फिर मुक्तिबोध से कहलवाते हैं : 'आज की कविता में (जीवन–जगत के साथ) सामजंस्य से अधिक द्वंद्व ही है इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वातावरण है।'

इसी से जुड़ा नया मूल्य है 'ईमानदारी'(सिंसियरिटी) जो 'प्रामाणिक अनुभूति' के बिना सम्भव नहीं। रघुवीर सहाय को उद्धृत करते हुए नामवर साफ़ करते हैं कि 'प्रामाणिक अनुभूति' का अर्थ है 'अपने पूर्वग्रहों से' उपर उठ कर 'वस्तुओं की वास्तविकता का सही अनुभव' करना। रघुवीर सहाय के शब्दों में कहें तो 'बुद्धि और हृदय के विभाजन को अस्वीकार करके एक अखण्ड अविभाज्य चेतना के स्तर पर ईमानदारी को प्रतिष्ठित' करना। नामवर फिर रघुवीर सहाय को उद्धृत करते हैं जो ईमानदारी के मायने खोलते हुए कहते हैं कि ईमानदारी में भी वास्तविकता के समांतर एक द्वंद्वात्मकता और कशमकश होती है। इसलिए कवि की ईमानदारी 'यह माँगती है कि समालोचक सामाजिक चेतना के सभी स्तरों पर द्वंद्वात्मक उपादेयता को स्वीकार करे, बौद्धिक विकास की प्रणाली में विचार और आचरण के बीच जो कशमकश होती है उसके प्रति सजग रहे'। इसका मतलब है कि ईमानदारी

एक बौद्धिक संगठन है। गरज़ कि ईमानदारी समझदारी का दूसरा नाम है।

ईमानदारी के मूल्य खोजना है तो किसी कविता को उसके कवि के जीवन से मिलाकर देखने की अपेक्षा 'काव्यकृति पर ही आधारित निर्णय' ही अभीष्ट है। अगर हम कविता को कवि के जीवन का पर्याय समझने की भूल करेंगे तो कविता की स्वायत्तता को ही नष्ट कर देंगे। लेकिन अंत तक पहुँचते-पहुँचते नामवर ईमानदारी पर ही संदेह करने लगते हैं और स्त्राविंस्की को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि 'ईमानदारी एक अनिवार्य (शर्त) है जो कोई गारंटी नहीं देती'।

इसी को कहते हैं नामवर की नामवरी कि वे किसी एक जगह ठहरते नहीं लगते। इसका कारण शायद उनका बहुपाठीपन है या तज्जन्य आत्मविश्वास की कमी! दूसरों के तर्कों से मुक़दमे लड़ने की भी एक सीमा होती है!

अंतिम अध्याय 'परिवेश और मूल्य' फिर एक बेहतरीन प्रस्तुति है क्योंकि इसमें नामवर शुरू में ही एक बेहद सटीक उदाहरण पेश करके बाक़ी बातों के लिए एक बेहतरीन भूमिका बना देते हैं। बहुत शुरू में ही वे समकालीन समीक्षा की एक दुविधा पर उँगली रखते हुए कहते हैं कि नयी कविता का मूल्यांकन में सबसे बड़ा 'जोख़िम' यह है कि 'जिस परिवेश से यह काव्य सम्बद्ध है वह कवि और आलोचक दोनों का ही साझा परिवेश है'।

इसी प्रसंग में नामवर कविता और उसके परिवेश के अतर्सबंध को समझने के लिए संस्कृत के एक आचार्य राजशेखर से बेहतरीन उद्धरण देते हुए स्पष्ट करते हैं कि 'कविता में आकाश के रूप अथवा सरिताओं के सलिल आदि के 'स्वरूप' का निबंधन नहीं होता बल्कि उनके 'प्रतिभास' का निबंधन होता है'... इस प्रकार काव्य प्रतिभासमय होते हैं। यही 'आधुनिक युग में' आइ.ए. रिचर्ड्स की 'द्वितीय वास्तविकता'(सेकंड रीयलिटी) है। लेकिन कविता का संसार अपने आप में 'स्वत:सम्पूर्ण' संसार नहीं है। नामवर मुक्तिबोध से फिर कहलवाते हैं कि 'कला का अपना स्वायत्त स्वतंत्र राज्य है, किंतु उसकी यह स्वायत्तता और स्वतंत्रता सापेक्ष है'।

नामवर और 'अँधेरे में'

इन प्रतिमानों के अंत में नामवर मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' को 'परम अभिव्यक्ति की खोज' कहते हुए उसका 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़म' प्रस्तुत करते हैं लेकिन जिन प्रतिमानों को वे पहले गिनाते हैं उनको 'अँधेरे में' ढूँढ़ना 'अँधेरे में' के प्रति ज़्यादती होगी। फिर भी, 'अँधेरे में' की नामवरीय समीक्षा की समीक्षा इस मानी में दिलचस्प हो सकती है कि ऐसा करके हम जान सकते हैं कि सिद्धांत के कथन तक तो हर विद्वान बेझोल रहता है, लेकिन ज्यों ही व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में आता है, उसकी घोषित समीक्षा पद्धति लड़खड़ाने लगती है।

अगर हम 'अँधेरे में' की उनकी समीक्षा देखें और फिर उनके 'पुनश्च' के हिस्से पढ़ें तो उसमें नामवर की कई झोल-झिझक दिखेंगी। पहला झोल तो समीक्षा के एकदम शुरू में ही नज़र आता है। एकदम शुरू में 'अँधेरे में' को 'परम अभिव्यक्ति की खोज' का शीर्षक देते हैं और और इसके प्रमाण में कविता की अंतिम कुछ पंक्तियों का हवाला देते हैं, लेकिन इसके तुरंत बाद वे 'अभिव्यक्ति की खोज' को 'अस्मिता की खोज' कहने लगते हैं कि यह कविता का मूल कथ्य है 'अस्मिता की खोज' जो 'आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है'।

समीक्षा आगे बढ़ती है : अस्मिता की खोज को मुक्तिबोध 'नाटकीय रूप' देते हैं। नाटकीय कौशल के लिए व्यक्ति को दो में विभक्त कर दिया गया है। एक 'मैं' और दूसरा उसका प्रतिरूप 'वह'। फिर नामवर कविता के स्वप्न दृश्यों का सरलार्थ करते चलते हैं— जैसे 'रहस्यमय व्यक्ति' का कमरे में लगातार चक्कर लगाना, बाहर बुलाना, फिर उसका गुफा में होना, रक्त में नहाये पुरुष का दर्शन और फिर अँधेरा। अँधेरे में भय का वातावरण, फ़ासिस्ट ख़तरे का अहसास, फिर जनक्रांति का

सपना, जनक्रांति के बीच ही अस्तित्व की सुगंध महसूस होती है 'मैं' को।

यहीं मुक्तिबोध अभिव्यक्ति की समस्या पर उँगली रखते हैं कि कवि इस जटिल यथार्थ को पूरी तरह से अभिव्यक्त करने में असहाय-सा महसूस करता है : *किंतु, असंतोष है मुझको गहरा / शब्दाभिव्यक्ति। अभाव का संकेत!*

यानी कवि जो अभिव्यक्त करना चाहता है, उसे पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा है क्योंकि उसके पास शब्द की अभिव्यक्ति का ही अभाव है। कवि सीधे कह रहा है उसकी समस्या अपने समय के जटिल उलझे यथार्थ को शब्दों में व्यक्त करने की है लेकिन वह नहीं कर पा रहा। इसीलिए वह कहता है : *अब अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने ही होंगे / तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब।*

यानी पुराने तरीक़े से नये की अभिव्यक्ति नहीं हो पा रही। इसीलिए नया तरीक़ा खोजना होगा। यह तरीक़ा है फ़ैंटेसी। मुक्तिबोध फ़ैंटेसी का सहारा लेते हैं। 'फ़ैंटेसी' कवि की कल्पना को मुक्त करती है। इसीलिए 'अँधेरे में' एक लम्बी स्वप्न-कथा बन जाती है।

इस तरह मुक्तिबोध 'परम अभिव्यक्ति' की खोज करने की कोशिश करते हैं।

लेकिन मुक्तिबोध के दावे के बावजूद नामवर इसे सिर्फ़ 'अभिव्यक्ति' नहीं मानते। वे 'अभिव्यक्ति' की जगह 'अस्मिता' शब्द को रख देते हैं और कहते हैं कि 'कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज व्यक्ति की खोज नहीं है, बल्कि अभिव्यक्ति की खोज है। एक कवि होने के नाते परम अभिव्यक्ति ही अस्मिता है।' जब परम अभिव्यक्ति ही अस्मिता है तो अस्मिता की उलझन पैदा करने की जगह उसे 'परम अभिव्यक्ति' ही रहने देते।

लेकिन वे नामवर नामवर कैसे जो सुलझे को उलझाए नहीं!

अब हम अस्मिता के बारे में सोचें। नामवर के अस्मिता पर बल देने का कारण रहा शायद 'अस्तित्ववादी दबाव' जो सत्तर के दशक में हिंदी साहित्य में ख़ासे चलन में था। लेकिन नामवर अस्मिता को अस्तित्ववाद से जोड़कर दिखाने की जगह अस्मिता के सवाल को मार्क्स के बेगानेपन के सिद्धांत से जोड़ कर चलते हैं और मुक्तिबोध की *एक साहित्यिक की डायरी* की यह लाइन उद्धृत करते हैं जिसमें मुक्तिबोध लिखते हैं : 'मैं उस भयानक मशीन का चित्रण करने वाली कहानी नहीं बल्कि उपन्यास लिखने वाला हूँ जिसमें हर आदमी वह नहीं है जो वस्तुतः वह है या होना चाहेगा।' यही व्यक्ति का 'अपने आप से अलगाव' है। यह अलगाव पूरे समाज के स्तर पर वर्गभेद है, तो व्यक्ति के स्तर पर अस्मिता का लोप! मार्क्स मज़दूर वर्ग के अलगाव की बात करते हैं लेकिन नामवर इसे खींच कर निम्न मध्यवर्गीय लोगों के अलगाव तक ले आते हैं कि वे कहते हैं कि इस 'अलगाव का आलम्बन निम्न मध्यवर्ग' ही है।

साफ़ कर लें : मुक्तिबोध मानते हैं कि साहित्यकार निम्न-मध्यवर्ग से आता है, और पाठक भी उसी वर्ग से आता है। दोनों ही अपने आप से अलग यानी 'आत्मविभक्त' (स्प्लिट) हो जाते हैं। पूँजीवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व का विभाजन करता है। इससे निकलने का रास्ता क्या है? मार्क्स के अनुसार 'वर्ग संघर्ष का तेज़ होना' ही एक रास्ता है, जबकि मुक्तिबोध का तरीक़ा 'आत्मसंघर्ष' है। यह 'आत्मसंघर्ष' सामाजिक संघर्ष के साथ ही सम्भव है। मार्क्स के बेगानेपन के सिद्धांत से अस्मिता के मुद्दे को जोड़ कर नामवर अस्मिता को अस्तित्ववादी कहे जाने से बचा लेते हैं और इस तरह रामविलास शर्मा द्वारा मुक्तिबोध को 'अस्तित्ववादी' कहे जाने से अपने को अलग कर लेते हैं। मुक्तिबोध का 'आत्मसंघर्ष' अस्तित्ववादी आत्मपीड़न से भिन्न ही नहीं, बल्कि उससे बहुत भिन्न क़िस्म के मार्क्सवादी सिद्धांत और कर्म की सीमा में प्रवेश करता है। नामवर कहते हैं कि मुक्तिबोध का 'संकल्पधर्मा चेतना का रक्त प्लावित स्वर' सारे कुहासे, अनिश्चय, संशय ,एकाकीपन, बेचैनी, अपराधबोध, स्वप्न-दृष्टि, आस्था, आकांक्षा, दुर्बलता, दृढ़ता आदि अनेक मन:स्थितियों को अपने ताप में पिघला कर एक वैज्ञानिक -दृष्टि और मानव आस्था में ढाल देता है।

मुक्तिबोध की अस्मिता की खोज को अस्तित्ववादी कहना उनको प्रतिक्रांतिकारी सिद्ध करना

है। रामविलास यही करते हैं। उनके जबाव में मुक्तिबोध को क्रांतिकारी सिद्ध करने के लिए नामवर मार्क्स की '1844 की *इकॉनॉमिक फ़िलॉसफीकल मेन्युस्क्रिप्ट* का हवाला देते हुए कहते हैं कि अलगाव और वस्तुकरण पूँजीवादी व्यवस्था के अभिशाप हैं जिसका सबसे अमानुषिक प्रभाव मजदूर वर्ग पर पड़ता है। इस अलगाव की प्रक्रिया से मुक्त होने का उपाय मार्क्स की दृष्टि में 'वर्ग चेतना' है। इस प्रकार से 'वर्ग चेतना' ही 'अस्मिता की खोज' कही जा सकती है।

लेकिन यह क्या? कहाँ 'क्लास कांशसनेस' और कहाँ अस्मिता की खोज! इस फँसावट से निकलने के लिए नामवर फिर उसी 'अभिव्यक्ति' की ओर लौटते हैं : *अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे उठाने होंगे / तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब*। यानी 'यह अभिव्यक्ति काव्यनायक के अपने व्यक्तिगत ख़यालों के दायरे से निकलकर क्रांति के लिए सन्नद्ध जन यूथ में घुल मिल कर उसके साथ पूरी तरह एकाकार हो जाती है। जब लग गया कि अस्मिता एक 'थियरिटीकल मुसीबत' है, तो नामवर अंत में फिर अभिव्यक्ति का पल्ला पकड़ते हैं और कहते हैं कि कविता के इस प्रतिमान (यानी सपाट बयानी) के संदर्भ में 'अँधेरे में' की समीक्षा की यही संगति है कि यह कविता मुक्तिबोध की परम अभिव्यक्ति के साथ उत्तम मूल्यों की मूर्तिमान काव्य-प्रतिमा है'।

कहने की ज़रूरत नहीं कि 'अस्मिता की खोज' नामवर की अपनी खोज है जो उनसे आगे चलकर 'पुनश्च' लिखवाती है। कारण कि उनकी पहली व्याख्या को देख किसी ने कविता में सशस्त्र क्रांति तक के दर्शन कर डाले, तो किसी ने (रामविलास शर्मा ने) उनको 'अस्तित्ववादी', 'रहस्यवादी' कह डाला।

नामवर ने तो *कविता के नये प्रतिमान* में सिर्फ़ मुक्तिबोध की एक कविता की चर्चा की थी। लेकिन सत्तर के दशक की वामपंथी बौद्धिक उठान के दौर में बहुत से युवा वामपंथी समीक्षकों का ध्यान मुक्तिबोध के विचार-साहित्य की ओर भी गया। उनकी रचनावली (1980) आ चुकी थी इसलिए युवा लोगों के लिए मुक्तिबोध सिर्फ़ 'अँधेरे में' तक सीमित न रहे। मुक्तिबोध का प्रभामण्डल फैला। वे नये क़िस्म के रचनात्मक मार्क्सवादी चिंतक की तरह उभरे। नये मार्क्सवादियों ने उनके इस रूप को हाथों-हाथ लिया और 'अँधेरे में' की नामवरीय व्याख्या तक वे सीमित न रहे। बजाय इसके वे कविता के बिम्बों और प्रतीकों तक में मुक्तिबोध की क्रांतिकारिता खोजने लगे और इसी प्रक्रिया में उनको नामवर के नव्य समीक्षा की शरण में जाने का तीखा अहसास हुआ। तब के युवा मार्क्सवादियों की नज़र में नामवर जैसे प्रगतिशील समीक्षक का अचानक अमेरिकी नव्य समीक्षा और इलियट की ओर भक्तिभाव से मुड़ जाना कुफ्र से कम नहीं था। *कविता के नये प्रतिमान* में जगह-जगह नामवर का 'प्रतिक्रियावादी' परिमलियों को परम विद्वानों की तरह उद्धृत करना नये मार्क्सवादी विचारकों को मार्क्सवाद से गद्दारी लगा। जबाव में नामवर पर जमकर विचारधारात्मक हमले हुए।

कविता के नये प्रतिमान के 'अँधेरे में : पुनश्च' में नामवर का मार्क्स के बेगानेपन और अस्मिता की थीसिस तक पहुँचने के पीछे नये मार्क्सवादियों के हमले थे जिनका हवाला नामवर ने स्वयं दिया है।

निष्कर्षत : कुछ बातें और

कविता के नये प्रतिमान की अपनी इस 'पठंत' (रीडिंग) के अंत में हम यह कुछ बातें अवश्य कह सकते हैं कि :

◆ *कविता के नये प्रतिमान* की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें नयी कविता के पच्चीस वर्षों का रचनात्मक और वैचारिक आख्यान लगभग समग्रता के साथ आ गया है।

◆ नयी कविता के जीवन-मूल्य और प्रतिमान किस तरह से अपनी पूर्ववर्ती छायावादी और छायावादोत्तर कविता से भिन्न हैं और नयी कविता को पढ़ने के अपने तरीक़े ज़रूरी हैं, इस बात पर अगर किसी समीक्षक ने ज़ोर दिया तो *कविता के नये प्रतिमान* के लेखक ने दिया।

◆ नयी कविता को समझने के लिए नये क़िस्म की समीक्षा की आवश्यकता है और उसे अमेरिकी नव्य समीक्षा की कुछ अवधारणाओं की सहायता से बेहतर विकसित किया जा सकता है। इसका जैसा तीखा अहसास नामवर को रहा वैसा उनके समकालीन किसी समीक्षक को नहीं रहा। इस मानी में वे बिला शक नयी कविता के प्रतिनिधि और शायद एकमात्र समीक्षक हैं।

◆ अपनी इस पुस्तक के ज़रिये नामवर ने हिंदी समीक्षा को एक बौद्धिक ऊँचाई दी। यही नहीं, हिंदी समीक्षा को समीक्षकों के 'निजी पसंद नापसंद' (सब्जेक्टिविटी) से मुक्त कर हिंदी समीक्षा के लिए एक 'वस्तुगत समीक्षा पद्धति' विकसित करने का साहस किया। इसके लिए उन्होंने न केवल अमेरिकी नव्य समीक्षा से सहायता लेने से परहेज़ नहीं किया बल्कि वे संस्कृत काव्यशास्त्र तक से सहायता लेने से नहीं चूके।

◆ मार्क्सवादी समीक्षा की यांत्रिकता और शास्त्रीय जड़ता की जगह नामवर ने समीक्षा को सहयोगी प्रयास कहकर उसे एक विमर्श का दर्जा दिया।

कविता के नये प्रतिमान की सार्थकता को बताने वाली ऐसी बहुत-सी बातें और भी कही जा सकती हैं लेकिन साथ-साथ यह भी कहा जाना चाहिए कि :

◆ कविता के नये प्रतिमान खोजते-खोजते 'नयी कविता के सबसे बेहतरीन कृतित्व' के दौर को नेहरू के नाम कर नामवर ने अपने समूचे प्रयत्न को एकांगी बना लिया।

◆ नामवर की समीक्षा-पद्धति अपने ढंग की 'खण्डन-मण्डनात्मक' क़िस्म की एक जटिल समीक्षा पद्धति है। यह जटिलता इसलिए आती है क्योंकि वे अपनी बात भी दूसरों विद्वानों के 'ब्याज' से (यानी उद्धरणों से और तर्कों से) कहते हैं और इस चक्कर में दूसरों की तर्कपद्धति की ताक़त तो उनको मिलती ही है उनकी कमज़ोरियाँ भी जाने-अनजाने उनको स्वीकार करनी पड़ती हैं। वे अपने शब्दों में अपना पक्ष कम ही कहते हैं और ऐसा लगता है कि उनसे अधिक सटीक तो दूसरे हैं। इसीलिए साही उनकी समीक्षा में उनके उस्ताद की तरह उभरते हैं मानो साही से बड़ा उस वक़्त कोई दिमाग़ न हो। यह बात इस लेखक को कुछ हज़म नहीं होती।

◆ *कविता के नये प्रतिमान* यह भी स्पष्ट करती है कि नयी कविता क्यों 'बौद्धिक' और 'ऐलिटिस्ट' होती गयी और क्यों छायावादोत्तरी कवियों यथा बच्चन व दिनकर आदि की कविताएँ 'भावोच्छ्वासी' कही जा कर 'हीन' बना दी गयीं। इसके लिए अज्ञेय से लेकर रघुवीर सहाय तक सभी नये कवि ज़िम्मेदार हैं साथ ही प्रतिमान के खोजी नामवर भी ज़िम्मेदार हैं। इसीलिए आज अपनी जनता से 'कविता' एकदम कटी नज़र आती है। ऐसा लगता है कि जहाँ कविता' है वहाँ जनता नहीं, जहाँ जनता है वहाँ कविता नहीं है।

◆नयी कविता के मानकों ने कविता को 'हाई कल्चर' की कोटि में रख दिया। बाक़ी कविता को 'लो कल्चर' की कविता की कोटि में रख दिया। आज कविता अपनी जनता से महरूम है तो उसका कारण नयी कविता के माने गये मानक हैं। इसलिए *कविता के नये प्रतिमान* को हम कुछ 'क्रिटिकली' ही स्वीकार कर सकते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि इससे जनता और कविता दोनों का ही नुक़सान हुआ है।

◆नामवर के बहुत से तर्क-बिंदुओं की समीक्षा हमने यथाप्रसंग कर दी है, इसलिए उनका कहना यहाँ आवश्यक नहीं है। उन्हें यथास्थान पढ़ा जा सकता है।

अंत में हम एडवर्ड सईद के शब्दों में नामवर को हिंदी का पहला 'बुद्धिजीवी समीक्षक' कह सकते हैं।